UNIVERSAL
LIBRARY

OU_178730

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY
Call No. H83.1/P22H Accession No. G.H.123
Author परसाई, हरिशंकर।
Title हँसते हैं... रोते हैं। 1952
This book should be returned on or before the date last marked below.

# हँसते हैं....रोते हैं

[ कहानियाँ ]

लेखक—हरिशंकर परसाई

वितरक—सुषमा साहित्य मंदिर, जबाहरगंज, जबलपुर

मई १९५३ ] प्रथम संस्करण [ कीमत २॥)

प्रकाशक :

सुभाष प्रकाशन मंदिर, जबलपुर

सर्वाधिकार लेखक के आधीन

मुद्रक :

अखिल प्रिंटिंग प्रेस, गोपालबाग, जबलपुर ।

# समर्पण

हिन्दी पढ़ लेने वाले ऐसे हर भाई और बहिन को--
जिसके जेब में ( या बटुए में )
किताब उठाते वक्त
१॥) हो;
और जिसने
किताब खरीदकर पढ़ने की भले आदमियों जैसी आदत
सीख ली हो।

—लेखक

# इस पुस्तक में—


| | | |
|---|---|---|
| ( १ ) | मेरी एक बात और | .. |
| ( २ ) | पड़ोसी के बच्चे | ५ |
| ( ३ ) | भीतर का घाव | ६ |
| ( ४ ) | क्या कहा ? | १६ |
| ( ५ ) | रमता जोगी | २४ |
| ( ६ ) | अच्छा हूँ | ३५ |
| ( ७ ) | क्रांति हो गई | ४७ |
| ( ८ ) | सुधार | ५० |
| ( ९ ) | साड़ी का रंग | ५१ |
| (१०) | मैं नर्क से बोल रहा हूँ | ६३ |
| (११) | लक्ष्य | ६९ |
| (१२) | सुलह | ७३ |
| (१३) | जानवर की कहानी | ८० |
| (१४) | भूख का स्वर | ८४ |
| (१५) | सेवा का शौक | ९२ |

# मेरी एक बात और---

भूमिका वाले पन्नों को झट उलटाकर पहिली कहानी पर कूद पड़ने की जिन्होंने आदत डाल ली है, वे भी इसे पढ़ें; नहीं तो १॥) की किताब में से लगभग १।≈) की कहानियाँ ही पहले पढ़ेंगी—और हमारा क्या बिगड़ेगा ? इसे मिलाकर कुल १५ रचनाएँ हैं, इस पुस्तक में ।

कहानियों को लिखकर फिर एक लंबी भूमिका में कहानियों को खुद समझाऊँ या किसी महिमा-मंडित साहित्यकार से समझवाऊँ, तो पढ़ने वाले की बुद्धि पर भरोसा खोकर ही यह संभव है । और जिस कहानी को व्याख्या की आवश्यकता पड़ जाय, वह शायद कहानी होने से इनकार भी कर दे । वैसे कहानी के बाल में अगर खाल होती होगी, तो वह तो पुस्तक प्रकाशित होने पर खींची ही जायगी—आलोचक भाइयों द्वारा !

मेरी बात बहुत सीधी है । इत्र और साहित्य को साथ रख कर बेचने वाली चौराहे की दूकान की पट्टी पर मैं रोज़ घंटे-दो घंटे बैठकर सामने सड़क पर से सतत प्रवहमान जन-जीवन को देखता हूँ-- इस नियमितता से बैठता हूँ कि 'मैं खोई हुई वह चीज़ हूँ, जिसका पता तुम हो' वाली बात 'फिट' हो जाती है ।

सामने से लोग निकलते हैं--तरह तरह के ! लंबे बालों को झटके के साथ पीछे फेंक, मटककर, नागिन-सा बल खाता हुआ साइकिल चलाने वाला नाजुक बाबू; 'शोभा ही के भार' से जिसके पाँव 'सूधे' नहीं पड़ते ऐसी वह तरुणी; सारे संसार के दुख को अपने भीतर भरकर आँखों के झरोखों से दिखाने वाला वह बूढ़ा; 'हलो पार्टनर' कहकर ठीक चौराहे पर दोस्त के हाथ पर हाथ मार

कर अट्टहास करने वाला वह कालेज का विद्यार्थी—और तरह तरह के लोग !

लेकिन एक दिन ! एक आदमी आकर वहाँ खड़ा हो गया और बोला, " भैया, दुनिया में दो ही तरह के आदमी होते हैं—हँसने वाले और रोने वाले ! "

मैंने कहा, "और जो न हँसते हैं; न रोते हैं ?"

वह बोला, "वे आदमी थोड़े ही हैं।"

मैं बोला, "उन्हें लोग देवता कहते हैं !"

वह बोला, "देवता होते होंगे तो हों, मगर आदमी नहीं होते।"

बात बहुत ज्ञान से भरी उक्ति जैसी शायद नहीं है। और तात्विक विवेचन को फ़िल हाल छोड़ दें, तो मैं देखता हूँ कि आँखों के सामने से जो इतने लोग निकल जाते हैं तो कोई हँसता है, कोई रोता है। हँसने और रोने के संयोग से ही बना हुआ तो मनुष्य दिखता है।

हँसता हुआ मुख दुर्लभ है। हम इसी उम्मीद से यहाँ बैठे रहते हैं कि दस-पाँच वास्तव में प्रसन्न मुख दिख जावें—दुखाक्रांत इस भीड़ में।

सच्ची हँसी बड़ी अच्छी चीज़ है। और जिन्हें मन के दुख की बीमारी हो वे मेरा यह Prescription (नुस्खा) नोटकर लें—वे किन्हीं ऐसे आदमियों की हँसी में स्नान कर लें जो निश्छल, निःस्वार्थ, निर्मल हँसी हँस रहे हों—रोग दूर हो जायगा।

लेकिन एक खास किस्म के मरीज़ भी होते हैं जिन्हें निज का

कोई दुख नहीं होता पर जो इसलिए दुखी हैं कि वे देखते हैं दूसरे सुखी हैं। इनका मर्ज़ लाइलाज है।

बात यह है कि दूसरे के दुख में दुखी होना आसान है; दूसरे के सुख में सुखी होना बहुत मुश्किल !

तो आदमी को मैंने जैसे हँसते और रोते देखा है, वैसा ही उतारा है, इन कहानियों में। आदमी की वास्तविक ज़िंदगी को कहीं छोड़ा नहीं है। थोड़ी उड़ान भरी है, तो उस पंछी सी जो दाना बीनने उड़ जाता है पर फिर नीड़ में लौट आता है; उस परिन्दे सी नहीं जो उड़ जाता है तो उड़ जाता है और घोंसले की सुध नहीं रहती ! केवल नीले आसमान की रंगीनी से लुभाकर हरी-भरी ज़मीन छोड़ देने की मूर्खता हमसे करते नहीं बनती।

और साफ कहूं तो यह कि इन कहानियों में अनेक पात्र ऐसे हैं जिनकी कहानियाँ मैं तब लिखना चाहता था जब वे इस संसार में न हों--शिष्टता का तकाज़ा है। मगर मैं बरसों इंतज़ार करता रहा, पर उन्होंने मरने का नाम नहीं लिया। मज़बूर होकर मैंने कहानियाँ लिख दीं। और अब मैं चाहता हूँ वे कम से कम हज़ार वर्ष जिएँ !

अब आप हँसने और रोने की बातें पढ़ें। यह बात अभिमान होने से बच जायगी अगर मैं कहूँ कि जहाँ मैंने हँसाना चाहा है, वहाँ आप ज़रूर हँसेंगे और जहाँ रुलाना चाहा है वहाँ ज़रूर रोवेंगे--याने दिल रोवेगा, आँखें चाहे न रोवें क्योंकि वे कम्बख्त धोखेबाज भी तो होती हैं।

और क्या कहूँ ? कहानियाँ सब अच्छी हैं; बहुत अच्छी हैं। शैली के मामले में मैं किसी की नक़ल करने से साफ़ बच गया

हूँ। पदचिन्ह अगर कहीं किसी के दिख गये हों, तो उनको बचाकर निकला हूँ कि कहीं मेरे पैर उन पर न पड़ जावें!

भाषा जैसी बोलता हूँ, वैसी ही लिखी है।

बस!

'मैं आपनि दिसि कीन्ह निहोरा'

२५ मई, १९५३
जबलपुर।

—हरिशंकर परसाई

# पड़ोसी के बच्चे

हर साल भगवान एक बच्चा देता है, मेरे इस पड़ोसी को। पिछले साल इसने स्त्री को उसके पिता के घर अपने बच्चोंके 'बेटेलियन' समेत भेज दिया था, क्योंकि उसकी नौकरी छूट गई थी। इसलिये उस साल बच्चा नहीं हुआ। पर भगवान के यहाँ बेईमानी आज तक नहीं हुई। उसका हिसाब बड़ा साफ रहता है। उसने इस साल एक साथ दो 'जुड़वां' लड़के देकर पुराना बकाया भी चुका दिया। ये दो मिलकर आठ बच्चे हो गये इसके अब।

और हिन्दुस्थान में अन्न की उत्पत्ति कम और बच्चों की पैदायश ज्यादा।

मेरा यह पड़ोसी—चालीस साल का होगा पर जब ६० साल के पड़ोसी रिटायर्ड पुलिस कप्तान के साथ खड़ा होता है तो उनका बाप— सा मालूम होता है। कमर झुक गई है, आंखें भीतर घुस गई हैं, कंधे गोल झुके, शरीर में तीन जगह मोड़, चेहरे पर झुर्रियां आ गई हैं, बालों ने बुढ़ापे से मिल कर कब की साजिश कर दी है।

अपना भार आप ढोने में समर्थ नहीं है। मैंने देखा है—आप भी देखते होंगे कि कुछ मुख ऐसे होते हैं जिन्हें देखते ही दया आ जाती है। ऐसा ही मुख है इस पड़ोसी का। और इसके माथे पर भार है आठ बच्चों का—सब 'साइज' के।

कल जब इसके यहाँ दो बच्चे हुए और यह घर के बाहर निकला तो पड़ोसिन चाची ने पूछा, "काहे रामा! का हुआ?" और इस रामा ने सूखे चेहरे पर मुस्कराहट लाकर, गंदे बड़े दाँतों को मुंह के बाहर निकाल कर हँस कर कहा–"भगवान की दया से दो लड़के हुए।"

अस्सी रुपये हर महीने मिलते हैं इस रामा को। किसी कारखाने में नौकरी करता है। और इसके आठ बच्चे हैं। घर में दस प्राणी हैं। प्रत्येक के हिस्से में ८) पड़े। आठ रुपये में भला एक आदमी कैसे जी सकता है? और अगर एक आदमी मर भी जाय तो आठ रुपयों में उसका कफ़न और लकड़ी का भी खर्च न निकलेगा। मैं बार बार सोचता हूँ, ये दसों प्राणी क्या जीते हैं? तो क्या ये सबके सब मुर्दे हैं? हाँ मुर्दे! ऐसे मुर्दे जो दनफ़ाये नहीं गये। और जब आज इसके घर के आठ मुर्दों में दो मुर्दे और जुड़ गये तो यह मूर्ख रामा दाँत निपोर कर कहता है, "भगवान की दया से दो लड़के हुए।"

सच कहूं––मुझे क्रोध आया उस रामा पर, उसके भगवान पर और इस सड़ी व्यवस्था पर। जी में आया कि दाँत निपोरते हुए उस रामा के गाल पर चाँटा लगा दूं और कहूं, "कौन सी लंका विजय कर ली तूने? इन दो प्राणियों को भूखों मारने को ले आया। कल ये दारिद्र्य के अभिशाप से तड़प कर तुझे कोसेंगे क्योंकि दुनिया में लाने की जिम्मेदारी तेरी ही तो है। और तेरा वह भगवान? जिसकी दया पर दोनों बच्चों की उत्पत्ति का आरोप करता है, उस भगवान में इतनी भी समझ नहीं है कि अस्सी रुपयों में आठ की जगह दस का भाग देने से हिस्सा कम आता है?" पर मैं विवश

था, क्रोध को पी ही गया। वह रामा पड़ोसी बारेलाल से कह रहा था, "हां भैया, आपकी दया से दोनों लड़के हुए।"

इस रामा के ये आठ बच्चे ? आदमी के बच्चे इसलिये कहलाते हैं कि मानव की वासना के कारण मानवी के पेट से पैदा हुए हैं। मगर पड़ोसिन चाची के बछड़े और बछिया इन मानव संतानों से अधिक स्वस्थ, अधिक सुखी, अधिक स्वच्छ ! और ये आदमी के बच्चे–हड्डी पर चमड़े की एक परत भर हैं। बड़े पेट, काले काले भूरे हाथ पैर, गंदा शरीर, नाक बहकर मुंह में प्रवेश करती हुई मैली आँखें— ये सब के सब नंग धड़ंग धूल में खेलते मिल जावेंगे।

बड़ा लड़का नम्बर एक का डाकू। अड़ोसी पड़ोसी बच्चों के हाथ में से मिठाई, लैया, चिवड़ा बिही, केला झपट कर खा लेता है। ताकता रहता है, बगुले की तरह। कोई बच्चा खाने का सामान लेकर बाहर निकला कि यह डाकू पहुँचा। एकदम थूक देता है उस पदार्थ पर। और– जब वह बालक उस थूक भरे पदार्थ को जमीन पर फेंक देता है, तब यह लड़का उसके कण-कण बीन कर खा लेता है। कणों के आसपास लिपटी धूल को भी वह नहीं झाड़ता क्योंकि शायद धूल-कण पेट में पहुँच कर खाली जगह भरने में मदद करते हैं। जब यह लड़का दूसरों का माल छीन खाता है तब कोई उसे कितना ही पीटे। पीठ पर धप्प पड़ते हैं, तमाचे मारे जाते हैं–पर वह जरा भी विचलित नहीं होता। बड़ी मनस्विता से धूल भरे दाने बीन बीन कर मुख में डालता जाता है।

मुझे उसका यह कार्य देख कर प्रसन्नता भी होती है, दुख भी होता है। सोचता हूँ कब समाज में ताकत आयेगी कि वह भरे हुये

हाथी में से छीन कर खाली हाथों में रख देगा ? मुझे भय भी है इस छीना झपटी के जोश में समाज खाने के पदार्थ में से धूल झड़ाना न भूल जाय। सोचता हूँ अच्छा तो करता है यह लड़का। ठेकेदार साहब, सेठ साहब, थानेदार साहब, बाबूसाहब के लल्ला, मुन्नू पुन्नू, छुट्टन, ललन को क्या हक है कि हाथ में बरफी रखकर उसे ललचाने निकलें ? ऐसा बली है कि पड़ोस के लड़कों के झुनझुना, टुनटुना, सीटी, खिलौना सब लूट कर घर में रख लेता है। गाली तो ऐसी देता है कि पुराने से पुराना थानेदार भी शरमा जाय। छोटे लड़के भी ऐसे ही थोड़े हेर फेर के साथ !!

कौन कहता है कि ये बच्चे इस रामा के हैं ? अरे इन बच्चों से उसकी मुलाकात हर इतवार को हो जाती है। रोज सबेरे जब दुनिया उठ भी नहीं पाती, वह नौकरी पर चला जाता है और रात को जब सारा संसार सो जाता है तब घर लौटकर आता है। सबेरे उठकर एक कप काला पानी जिसे वह 'चाय' कहता है; पीकर उठती हुई भूख को मार देता है। और हाथ में मैले कपड़ों में बँधी हुई रात की बासी रोटियाँ रखे पैदल पाँच मील दूर कारखाने को चल देता है। इतवार को आधे दिन घर रहता है तब भी ऐसा नहीं लगता कि यह बच्चों का पिता है। यह रामा बच्चों की हफ्ते भर की शिकायतें सुनता है, उनकी माँगें सुनता है, यह सुनता है कि घर में आटा नहीं है, चावल नहीं है, और दाल नहीं है। जब ये लड़के बाप का पाँव पकड़ कर धोती खींच कर एक पैसा चने के लिये माँगते हैं तब वह उनको झटक देता है, तमाचा मारता है, चिल्लाता है, "प्राण खाये जाते हैं! मर नहीं जाते ?" मैं सोचता हूँ—बच्चों के मरने की कामना करने वाला यह रामा उस दिन हँसकर कह रहा था, "चाची भगवान की दया से दो लड़के हुए—जुड़वाँ।"

उस दिन जब इसकी स्त्री को प्रसव हो गया, तब मैंने देखा यह रामा मुहल्ले में खोया खोया सा परेशान सा घूम रहा है। एक दो ने उसके कान में बात भी की। उसके चेहरे का विषाद बढ़ता ही गया। मैं उसकी परेशानी कुछ समझ ही न पाया।

इसी समय पड़ोसिन चाची बोली, "अरे दई मारे ? उसको कुछ गरम हरीरा वगैरह दिया कि वैसे ही मार डालेगा बेचारी को ?" चाची की बात सुन रामा नजदीक पहुँचा और बोला, "क्या बताऊँ चाची। पन्द्रह दिन पहले बच्चे हो गये। अब की पहली तारीख को इन्तजाम करके रख लेता। अब हाथ में एक पैसा नहीं है। क्या करूँ ? क्या न करूँ ?"

यह चाची बड़ी लड़ने वाली, बड़ी मुंह फट, बड़ी दुष्ट स्वभाव की मानी जाती है। बोली, "अरे पापी ! तू तो उसकी जान ले डालेगा। इधर आ।"

उस दिन सबेरे चाची की गाय ने भी एक बछड़ा जना था। चाची बोली रामा से, "ले ! सबेरे गाय के लिये लाई थी, ये गुड़, ये सोंठ, थोड़े से बच गये हैं। जा उबाल कर पिला दे।"

पशु की मां के खाने से जो बच जाय, वह आदमी की मां खाये ! चाची की गाय को जितना गुड़, सोंठ प्राप्त हुआ उतना इस रामा की स्त्री को भी नहीं।

लोग समानाधिकार की बात करते रहते हैं। आदमी आदमी की समानता की बात तो अभी दूर है, पशु के समान तो अधिकार मिल जायें आदमी को !

# भीतर का घाव

दर्पण में मुख देखकर कोई तो अपने आपको प्यार करने लगते हैं। कोई परेशान होते हैं कि हमसे कोई प्यार नहीं करता। और मेरा अन्दाज है कोई ऐसे भी होंगे जो दर्पण में मुख देखकर संखिया की तलाश करते होंगे। कवियों ने सावधान कर दिया है—यह आदत अच्छी नहीं—"मुखड़ा क्या देखै दरपण में? तेरे दया धर्म नहीं तन में।" आधुनिक कवि भी बिलकुल 'डायरेक्ट एक्शन' की धमकी देते हैं, "लूँगी दर्पण छीन।"

लेकिन इन हिदायतों के बाबजूद लोग दर्पण देखते ही हैं। मेरा पड़ोसी पलटू जिस बेचारे की आधी नाक कटी है तथा जिसे भगवान ने सौ की जगह पचास प्रतिशत दृष्टि देकर ही समझौता कर लिया है, जब दर्पण में भिन्न-भिन्न कोणों से मुख देख, अँगुली और कंघी की सहायता से माँग निकाल, कभी मुस्करा कर, कभी आँख में रस भर कर दुबारा दर्पण में मुख देख, अस्तीन चढ़ा, हाथ में डेढ़ फुट का एक डंडा लेकर, मटकता हुआ, कभी कमीज की सिकुड़न देखता हुआ, कभी आसपास की खिड़कियाँ और दरवाजे देखता हुआ, मुख पर मधुर मुस्कान लेकर, मस्तानी चाल से निकलता है, तब मुझे लगता है कि वह अवश्य सोचता होगा कि आज कामदेव, भगवान रुद्र के शाप से मोक्ष पाकर मेरे रूप में शरीर धारण कर चुका है। सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा अपने आप में मग्न, अपने ही महत्व में डूबी, अपने ही आनन्द में भूली रहती है।

मैं भी देखता हूँ दर्पण । पर जब भी मैं अपना मुख उसमें देखता हूँ, मेरा हृदय रो उठता है । एक चोट सी लगती है । आप यकीन करें, मेरा चेहरा ऐसा हरगिज नहीं है कि मुझे संखिया खाने की नौबत आये । यह जो मेरे ललाट पर दाहिनी ओर एक इंच लम्बा घाव का निशान है, उसे देखते ही मैं घबड़ा जाता हूँ । लोग इसे देखते हैं, और पूछते हैं कि यह घाव कैसे लगा ? आदमी बेचारे आखिर आदमी ही तो हैं । उन्हें क्या पता कि इस बाहरी घाव से बड़ा एक घाव भीतर भी है, जिसे वे नहीं देख पाते ।

चालीस वर्षों का बोझ माथे पर धरे जो मैं जिन्दगी के पथ पर चल रहा हूँ (कवि के शब्द उधार लेकर) इसलिये कि 'चलना धर्म मेरा' दूसरे कवि मित्र कहते हैं--'पीछे फिर कर देख न पंथी पथ पर क्या क्या छूट गया ।' पर मैं जानता हूँ, मानव को विस्मृति का वरदान अधूरा ही मिल पाया ।

मेरे बड़े भाई भी थे, मैं शुरू से ही बड़ा भाई नहीं कहलाता हूँ । बड़े भाई को भूत काल की क्रिया देते समय हृदय को फिर झटका लगता है । व्यक्ति के अस्तित्व को अस्वीकार करने वाला यह 'थे' कहीं वर्तमान के 'हैं' से समझौता कर पाता । बड़े भाई मुझ से बहुत बड़े थे । एम० ए० पास थे । दिन भर किताबों से उलझे रहते थे । पिता जी की इच्छा के विरुद्ध हाई स्कूल में अध्यापक थे । ऐसे अच्छे थे कि जब हमारी क्लास में पढ़ाने आते तो लड़के खुशी से बेंचों पर उछल पड़ते । सारे स्कूल, सारे नगर में सम्मान होता था । नाराज कभी नहीं होते थे । हमेशा मुस्कराते रहते थे । मान-अपमान का मोह या भय नहीं था । कहते थे जिसकी थोड़ी सी इज्जत हो उसे ही उसके जाने का डर

लगा रहता है। अपने पास तो बहुत है। मैं उसी स्कूल की नवीं कक्षा में पढ़ता था। और सब गुणों के अभाव में केवल इसीलिये मान पा जाता था, कि मैं उनका भाई हूँ।

मेरी एक स्नेहमयी भाभी थीं जो पास के ही गाँव के एक ग़रीब प्राथमरी स्कूल के शिक्षक की लड़की थीं। जब से भाभी घर में आई थीं तब से मैं माँ को भुला कर भाभी से खाना माँगता था। अपने को चतुर समझने वाला प्रौढ़ स्नेह की परख में धोखा खा जाता है, पर बचपन को स्नेह की ठीक परख होती है।

भाभी सबेरे से आधी रात तक काम करती थीं। ऐसा कौन सा काम था जो वे नहीं करती थीं। घर भर के कपड़े धोना, खाना बनाना, बर्तन माँजना, सफाई, लीपा-पोती सब वे ही करती थीं। मैं स्कूल से आते ही बस्ता फेंक कर भाभी को पुकारता था और वे मेरे लिये खाने को कुछ लिये ही रहती थीं। कभी कभी भाभी मुझे चिढ़ाती भी थीं, "तुम्हारी शादी मेहतरानी की लड़की से तय कर रहे हैं"। कभी कभी उन्हें देर से आते देख मैं बार-बार चिल्लाता और आने पर पूछता, "क्या कर रहीं थीं भाभी? हम कब से चिल्ला रहे हैं।" और भाभी मुस्करा कर जवाब देतीं, "अरे आज तुम्हारी लगन ही दे गई। शादी की तैयारी में लगी थी।"

ऐसी स्नेहमयी, ऐसी सेवा करने वाली देवी से भी माता-पिता प्रसन्न नहीं थे। आज माता और पिता दोनों को अपने हाथों से जलाकर निपट चुका हूँ। मैं बड़ा मातृ-भक्त, पितृ-भक्त रहा हूँ। पर आज जब उनके पार्थिव शरीर को राख भी परम-पावन गंगा में बहा चुका हूँ, कहता हूँ--माता और पिता ने भाभी को बहुत सताया--इसलिए कि वह गरीब की लड़की थी और उसके पिता ने

दहेज में कुछ नहीं दिया था। क्या देता बेचारा ? और ससार मे देवता समझे जानेवाले बड़े भाई, माता-पिता की निगाह में नालायक थे, क्योंकि उन्होंने बिना दहेज शादी कर ली थी, जबकि पिताजी को उनसे लगभग पाँच हजार की रकम की उम्मीद थी। नालायक समझे जाने वाले पति की स्त्री और ग़रीब माँ बाप की बेटी तिरस्कार ही तो पाती। मां बात बात में डाँटती। पिता जी दिन में दो चार बार उसके खान्दान को नीच कहते। वह बेचारी पाँच मील दूर रहने वाले अपने दुखी माता–पिता से मिलने भी नहीं दी जाती थी। घर में मेरी विधवा चाची थीं, जो निर्जला एकादशी रहा करती थीं, नवदुर्गा में एक लौंग खाकर उपवास करती थीं। पर वह भी रोज भाभी को सौ गालियां देने के पहले जलग्रहण नहीं करती थीं। जब यह चाची सुमरनी में हाथ डालकर 'दीनबन्धु करुणाअयन' का स्मरण करती थीं तब भी उनकी भृकुटी चढ़ी रहती थी, नाक–कान आँख और मन रसोई घर में भाभी के पास रहते थे। सुमरते सुमरते चिल्ला उठती "अरी बघार तो जला दिया, कुलच्छनी।"

भाभी ने कभी जवाब दिया हो ऐसा मैंने नहीं सुना। उनकी शान्ति पर मुझे गुस्सा आता था। मैं कह भी देता था, "भाभी कह क्यों नहीं देती कि हमसे नहीं बनता ?" पर भाभी मेरा मुँह बन्द कर देती थीं। मुझसे कसम खिला कर कहला लेतीं कि मैं भैया से शिकायत नहीं करूंगा।

भाभी का कभी कभी माथा दुखने लगता, हाथ–पाँव में दर्द होने लगता। तब वे मुझे बुलाकर कहतीं, "भैया ज़रा हमारे हाथ–पाँव पैर से कुचल दो। और मैं पहले भाभी के पाँव छू कर फिर पिता जी के डंडे के सहारे भाभी के शरीर को पैरों से कुचल देता

था। गर्म शरीर पैरों में लगता तो मैं कहता, "भाभी तुम्हें बुखार आ गया है।" पर भाभी मुझे वहीं चुपकर देतीं, "मेरा तो शरीर ही गरम है। कहना मत किसी से।" और फिर इस हालत में भी भाभी विनोद की चुटकी लेतीं, "भगवान करे भैया, तुमको भी ऐसी ही लातों से पूजा करने वाली बहू मिले जैसी तुम मेरी लातों से पूजा करते हो।"

घर में किसी को चिन्ता नहीं थी कि भाभी की तबियत खराब रहती है। माता, पिता के लिए तो बोझ सी थीं। भैया बेहद प्यार करते थे, पर वे तो पढ़ने पढ़ाने ही में लगे रहते थे।

आखिर भाभी ने खाट पकड़ ली। लोक-लाज-वश पिता जी ने धर्मार्थ दवाखाने की दवा दिलाना शुरू कर दिया। शीशी भर पानी पिलाने से भला रोग दूर होता है? लेकिन माता पिता को भाभी को अच्छा थोड़े ही करना था। एक दिन मैंने बड़े भैया से केवल इतना ही कह दिया, "भैया भाभी की दवाई का आप प्रबंध कीजिये न।"

भैया ने उस दिन से सारा काम छोड़ दिया। भाभी के लिए न जाने कौन कौन सी दवाएँ लाकर देते थे। अच्छे डाक्टरों को लाकर दिखाया। दवाओं की शीशी पर शीशी लाकर माँ को देते जाते थे—यह खाने के बाद—यह दोपहर में—यह रात को सोते समय।

और अब मानव की पितृ-भक्ति और मातृ-भक्ति की भावना से हाथ जोड़कर क्षमा मांगते हुये मैं एक अत्यन्त कठोर बात कहने वाला हूँ। मैंने आरम्भ में ही कह दिया कि मैं माता पिता का कुछ कम भक्त नहीं हूँ। संतान के लिए मैंने उनमें देवता के दर्शन भी किये हैं। और मैं आज भी इस बात पर तैयार हूँ कि यदि उनके कुछ पाप

हों, तो वे सब मेरे सिर पर आ बैठें और मैं चिरकाल तक नर्क में वास कर यातनायें भोगूँ, वे स्वर्ग में सुख और शान्ति प्राप्त करें। पर मेरे भीतर जो आग जल रही है, उसकी लपट न निकले, यह संभव नहीं।

इधर भैया दवा की शीशी लाकर देते थे, उधर माँ और चाची उन्हें अलमारी में फेंकती जाती थीं। भाभी को दवा के स्थान पर पानी पिलाती थीं। मुहल्ले पड़ोस की स्त्रियों से कहती थीं, "अरे बाई वह तो ढोंग करती है ढोंग। कोई बीमारी हो तब तो?" मुझ पर यह रहस्य तब प्रकट हुआ जब एक दिन अचानक मैंने चाची को दवा की शीशी को नाली में खाली करते देखा। मैंने पूछा, "दवा क्यों फेंक रही हो चाची?" तो वे बोलीं, "अरे अंधा हो गया है? यह तो पानी है।" मैं समझ गया। दौड़कर भाभी के पास गया। पूछा, "तुम्हें मेरी कसम है सच बताओ तुम्हें दवा खाने को दी जाती है या नहीं?" भाभी मेरी ओर विवशता भरी टकटकी लगाये रही। उनकी आँखों में से आँसू टपक पड़े और वे बोलीं, "भैया, तुम्हें मेरी कसम है अपने भैया से न कहना।"

मैं समझ गया भाभी को दवा नहीं मिलती है। मैंने उसी दिन शाम को छिपकर दवाइयों से भरी वह अभागिन अलमारी भी देखी।

इसी समय एक नीचता और हो रही थी। इधर भाभी मौत के पास पहुँचती जा रही थीं, उधर माता-पिता भैया की शादी की बातचीत कर रहे थे। उसी नगर के एक मिसर जी के यहाँ बात चल रही थी। एक दिन मैंने माता जी, पिता जी और चाची तीनों को बात करते सुना।

चाची जी कह रही थीं, "अब यह तो चार दिन की मेहमान और है। तुम तो बात पक्की कर लो।"

पिता जी बोले, "पर लड़का गँवार है। कहीं फिर पहिले सरीखा अड़ गया तो ? पांच हजार देने को तैयार हैं मिसर जी।"

माता जी बोलीं, "पर अभी तो ये छाती पर बैठी है। न जाने कब तक इसके प्राण निकलते हैं ?"

मैं बालक था। दुनियाँ के छल-कपट-प्रपंच से अनभिज्ञ था। यह सुनकर मेरा माथा चकराने लगा। मुझे ऐसा लगा कि मैं दानवों के देश में पड़ गया हूँ। रात भर मुझे नींद न आई। बराबर सपने देखकर चौंक पड़ता। देखता कि बड़े बड़े राक्षस लम्बी लम्बी जीभ निकाले भाभी और भैया को निगलने के लिये बढ़ रहे हैं।

आज यह सब कह देता हूँ। सोचने समझने लायक हो गया हूँ। उस समय मैंने ये सब बातें भैया से नहीं कहीं। मेरी हिम्मत नहीं थी। माता-पिता का भय था। उनका प्रभाव था।

सबेरे मैं भाभी के पास पहुँचकर बैठ गया, और उनके पलंग पर बैठा बैठा घटों रोया। भाभी भी रो रहीं थीं। एकाएक वे आँसू पोंछकर बोलीं, "भैया मेहतरानी की लड़की से शादी करोगे न ?,, भाभी के इस विनोद से मेरे आँसू फिर फूट चले। मैं खूब रोया। जीवन में इतना कभी न रोया। अब तो हृदय पिट-पिट कर पाषाण बन गया है, कि मामूली दुख मालूम ही नहीं होता।

बड़े भैया को बड़ी परेशानी थी—कोई दवा लाभ नहीं पहुँचा रही थी। उन्हें क्या मालूम कि दवा अलमारी में पड़े पड़े असर थोड़े ही कर सकती है। भैया का शरीर चिन्ता के मारे आधा हो गया था।

मैं अक्सर उनकी आँखों में आँसू देखता था। उनके ऐसे पठन-व्यसनी ने महीनों से पुस्तक में हाथ नहीं लगाया था।

आखिर एक दिन भाभी इस दुखी जीवन से मुक्ति पा गई। मैं भाभी को सबसे अधिक प्यार करता था। मैं चीत्कार करके रो उठा। पर आश्चर्य हुआ, यह देखकर कि चाची का स्वर मुझ से भी ऊँचा था, और माँ का क्रन्दन सबसे अधिक था। इस समय उनके मुँह से 'हीरा सी' बहू के गुण-गान में जो शब्द निकल रहे थे उनको सुनकर कोई देवी भी भाभी से ईर्षा कर सकती थी कि सास-ससुर की कितनी प्यारी बहू थी, यह पृथ्वी पर।

और मैं सब कहूँ। माँ और चाची का बनावटी विलाप सुन कर मैंने रोना बन्द कर दिया। मेरे आँसू रुक गये। मैं कौतूहल से विश्व के प्रपंचों को देखने लगा।

भाई साहब का हाल क्या कहूँ? ये बड़े ज्ञानी थे, पर इस समय बालक की भाँति रो रहे थे। भाभी का सूखा हुआ शरीर अर्थी पर रखा। चार आदमियों की जरूरत भी नहीं, ऐसा हलका था।

तीसरे दिन भाभी के फूल बीन कर भाई साहब लौटे। फ़र्श पर दीवार के सहारे टिके बैठे थे, माथा हाथ से पकड़े हुये थे। मैं तीन दिनों से विद्रोही हो गया था। माता जी, पिता जी और चाची जी से बात तक नहीं करता था। जो वे कहते ठीक उसका उल्टा करता था। बात पूछने पर खीझकर चिल्लाता था।

भैया बैठे थे। इसी समय माता जी आईं और चाची जी भी आईं। माताजी बोलीं, "भैया अब हमारी तकदीर ही फूट गई। ऐसी हीरा सी बहू थी। भगवानके हाथ की बात है। पर अब आगेकी भी बात सोचना चाहिये।"

चाची ने अपना पार्ट अदा किया, "हां भैया, अब घर बसाने की चिन्ता करनी चाहिये। मिसर जी की लड़की है, चांद सी रखी है, जैसे सिनेमा की पुतली। पाँच हजार का धन भी वे दे रहे हैं।"

मेरा सिर चक्कर खाने लगा था। मन में आया दीवाल से सिर फोड़ लूं, चाची का भी सिर फोड़ दूँ। भैया भी अत्यन्त व्याकुल हो गये। उठकर खड़े हो गये। उत्तेजना में बोले, "तुम्हें शर्म नहीं आती चाची! अभी उसे मरे तीन दिन भी तो नहीं हुये।" उत्तेजना में भैया ने सामने की अलमारी का दरवाजा खोल दिया, जिसमें ताला चाभी लटके हुये थे. माता जी बन्द करना भूल गई थीं। भैया ने उस में रखी वे सब दवाई की भरी शीशियां देखीं और पूछा "ये शीशी यहाँ कैसे रखी हैं मां?"

मैं इस समय पागल सा हो गया था। बोला, "मैं बताता हूं भैया मैं! इन दोनों पापी·····"माता जी ने एक दम जोर के साथ झपट कर मेरे मुंह पर हाथ रख दिया, और मैं झोंका न सम्हाल सका। पास ही रखे लोहे के सन्दूक पर गिर पड़ा। इंच भर नोंक सन्दूक की कपाल में घुस गई। दृश्य ही बदल गया। माता जी घबराहट में यह भी न सोच पाईं कि अभी इसका मुँह बन्द कर देने में थोड़े ही बात छिप जायगी।

मुझे अस्पताल में होश आया। भैया, भाभी का दुख भूल गये थे। रात दिन मेरे पास बैठे रहते थे। तीसरे दिन उन्होंने पूछा, "क्यों दिनेश! सब बातें साफ साफ बता मुझे।"

और मैंने साफ साफ बातें उन्हें बतला दी। माता जी की, चाची जी की और पिता जी की—छल, कपट, हत्या, और दहेज का सौदा।

भैया रोये नहीं। बोले भी नहीं। एक गहरी साँस ली और उठकर चले गये।

हम दूसरे दिन सबेरे उठे तो भैया को खो चुके थे। वे न जाने कहाँ चले गये थे। भाभी का दुख अकेला इसका कारण नहीं था। वे मनुष्यों में विश्वास करते थे। यह भीषण दानवत्व उनकी सहन-शक्ति के परे था।

उनके लिये हम सब रोये। माता रोई, पिता रोये और सचाई से रोये। मैं अब तक रोता हूँ। भाई साहब कहाँ गये? क्या किया? जीवन से मुक्त हो गये? कुछ नहीं कह सकता।

मिसर जी के घर की पाँच हजार की रकम हमारे घर में नहीं आ पाई। मेरे घाव का आपरेशन हुआ। ऊपर के घाव का मलहम होता है, घाव अच्छा हो गया है। भीतर के घाव का मलहम कोई नहीं बना पाया। घाव पका है, यद्यपि निशान नहीं है।

और लोग पूछते हैं यह निशान काहे का है। कह देता हूँ, "एक बार किस्मत फूट गई थी।"

---

# क्या कहा ?

कहते हैं एक बार अरस्तू से किसी ने पूछा कि दुनिया में सबसे बड़ी झूठ क्या है ! और अरस्तू ने जबाव दिया, "एक कमरे में कुछ स्त्रियाँ 'चुपचाप' बैठी हैं।" अगर आप इस संबंध में आगे बातें करेंगे तो हम इतना और बता पायेंगे कि यह बात हमने किसी सिनेमा चित्र में देखी थी। और ये सिनेमा ही तो संसार के महा-पुरुषों के रूप और विचार का तथा संस्कृति का सच्चा प्रतिनिधित्व करते हैं। हमारे ही देश में महान् धार्मिक चित्रों में कृष्ण और राधा आपस में उर्दू फ़ारसी के 'शेर' में बातें करते हैं। और शबरी की कुटी की आलमारी में 'लिप्टन्स टी' ( Lipton's Tea ) का डब्बा रखा दिख जाता है।

वैसे, हमारी कहानी को सिनेमा से कोई प्रयोजन नहीं। हम तो अरस्तू के उक्त कथन को अक्षरशः सत्य मानकर आगे बढ़ते हैं। इसीलिये जब हम कहते हैं कि उस कमरे में वे पाँचों सहेलियाँ बैठी थीं, तो आप यह समझ लें कि वे बातें भी करती ही होंगी। ब्लाउज के 'कट', ईयरिंग के फैशन, और प्रोफेसर के फटे जूतों के नितांत भौतिक स्तर से उठकर वार्तालाप धीरे धीरे भाव-प्रदेश में प्रवेश कर रहा था।

वे पाँचों सहपाठिनें थीं। कालेज में पढ़ने वाली चंचल, चतुर, चमकीली लड़कियाँ। हृदय में आशाओं का चिराग़, मन में क़ाबू

में न आने वाली उमंगों का 'स्टोररूम'। महात्वाकांक्षा के शिखर पर खड़ी वे सब रंगीन जीवन को देख रही थीं।

इन सबका नेतृत्व करती थी निर्मला। और निर्मला की नेतागिरी के दो कारण थे—एक तो यह कि वह सबसे अधिक बोलती थी; और दूसरा यह कि वह अपनी सब सहेलियों को घर बुलाकर खिलाती पिलाती थी। और इस हमारे विशाल भारत देश में नेता वही होता है, जो जोर से बोले, या खिलाय-पिलाय।

निर्मला गँभीरता से बोली, "देखो, परीक्षा समाप्त हो गई। अब हममें से कौन कहाँ जाती है—कौन जाने? शादी होगी; नया घर मिलेगा—दुनिया ही बदल जावेगी! जिंदगी की राह पर चलते चलते अचानक साथ होली थीं। अब चौराहा सामने है; हर एक अपनी अलग राह पकड़ कर चलने वाली है। काश, हम सब इसी प्रकार साथ चलकर यह जीवन-यात्रा समाप्त करतीं।"

कमरे में गँभीरता छा गई। जिन्दगी के कठोर सत्य से पिट कर जब तक आदमी कड़ा नहीं हो जाता तब तक उसमें कोमल भावुकता होती ही है। ये सब लड़कियां भी बड़ी भावुक थीं।

निर्मला ने निस्तब्धता भंग करते हुए कहा, "मेरा एक प्रस्ताव है। हम लोग कल फिर इसी स्थान पर एकत्र हों और हममें से प्रत्येक अपनी प्रेम-कथा सुनाए। यह नहीं हो सकता कि यौवन के प्रथम उन्मेष के साथ हमने किसी को हृदय अर्पण कर देने की साधना न की हो। अब न जाने जीवन में हम कभी मिल भी पाती हैं या नहीं। इसलिये बिछुड़ने के पहिले हम अपने हृदय की सबसे मूल्यवान रहस्यपूर्ण निधि खोल दें।"

प्रस्ताव सुनकर शेष चारों लड़कियाँ क्षण भर मौन रहीं, एक दूसरे की ओर देखती रहीं; और फिर बड़ी झिझक से प्रस्ताव स्वीकार कर लिया ।

शीला ने एक संशोधन पेश किया, "सब अपने अपने प्रेमी का चित्र भी लावें और जब हम सब कथाएँ कह लें तब वे चित्र खोले जावें !"

किसी को यह कहने का साहस न हुआ कि उसके पास प्रेमी का चित्र नहीं है, क्योंकि इस जमाने में आदमी की वास्तविक शक्ल से चित्र अच्छे उतरने लगे हैं । इसीलिये प्रेमी प्रेमिका को प्रथम मिलन में ही 'फोटू' देने की जल्दी करता है ।

दूसरे दिन पाँचों सहेलियाँ एकत्र हुई । सदा से परिचित ये लड़कियाँ एक दूसरी की ओर बड़ी रहस्यमयी दृष्टि से देख रही थीं । उनमें से प्रत्येक अपने हृदय की रहस्य-गठरी आज खोलना चाहती थीं । आँखें मिलने पर आँखें झुका लेती। प्रत्येक स्वाभाविक दिखने की असफल कोशिश कर रही थी ।

'पहिले तू'; 'नहीं पहिले तू' की 'स्टेज' को समाप्त करते हुए निर्मला बोली, "अच्छा भई ! हम सुनाते हैं पहिले । पर एक काम करो--जो चित्र तुम लोग लाई हो उन्हें उलटा कर सामने रख दो ।" सब ने चित्र उलटा कर रख दिये ।

पुरुष पर स्त्री की विजय के अनेक कारणों में सबसे बड़ा कारण यह है कि स्त्री, पुरुष के संबंध के अपने मनोभावों को प्रकट करने का लोभ कुछ देर के लिए संवरण कर सकती है । पर पुरुष अपनी चाह को व्यक्त करने की उतावली करता है । और प्रेम का

पहिले व्यक्त करना उसे याचक के स्थान पर उतार देता है। यह स्त्री की शक्ति ही है जिसे 'लज्जा' का छद्म नाम दे दिया गया है। पर यह भी सत्य है कि पुरुष पर अपनी चाह को व्यक्त करने में स्त्री जितना संकोच करती है उतनी ही आतुरता से वह यह चाहती है, कि कोई उसकी बात सहृदयता से सुने, उसके प्रेम को उन्माद को बाँटे। उसकी स्नेह की पुलक विस्तार चाहती है। इसी-लिये संकोच के बाँध में छोटा सा छिद्र बनते ही हृदय की धारा पूर्ण वेग से प्रवाहित होती है।

निर्मला ने संकोच से प्रारम्भ करके निर्भीकता से अपनी प्रेम-कथा को आगे बढ़ाया। उसने बतलाया कि किस प्रकार बड़ी नाटकीय परिस्थिति में 'उनसे' उसकी भेंट हुई। और पहिली ही भेंट में उसे ऐसा लगा कि वे जन्म-जन्मांतर से एक दूसरे के हों। और फिर तो उन्हें देखे बिना उसे चैन नहीं पड़ती थी।

निर्मला बड़ी दर्द भरी आवाज से आत्म-विस्मृत सी होकर कथा सुनाती जा रही थी और बाकी चारों लड़कियाँ बड़ी तल्लीनता से उसके मुख के भावों के उतार-चढ़ाव के साथ हृदय को झुलाती सी सुन रहीं थीं।

निर्मला कह रही थी, "मेरा 'निर्मला' नाम उन्हें पसन्द नहीं था।" वे कहा करते थे—"निर्मला तुम इस लोक की मानवी नहीं हो, स्वर्ग की अप्सरा हो।" उन्होंने मेरा नाम 'उर्वशी' रखा था। वे इसी नाम से मुझे पुकारते थे।"

सहसा उसकी वे चारों सहेलियाँ चौंक पड़ीं, "एं ? क्या कहा ? 'उर्वशी' नाम रखा था ?"

निर्मला, बोली "तुम्हें ऐसा अजब क्यों लगता है ! सचमुच उन्होंने मुझे 'उर्वशी' नाम दिया था। वे सप्ताह में कम से कम एक बार अवश्य मुझसे मिलते थे। उन्हें गुलाब का इत्र बहुत पसन्द था। वे जब मेरे यहाँ आते तो उनके वस्त्रों से उड़कर सुगन्ध चारों ओर फैल जाती थी। आज भी मुझे जब उनकी याद आती है, गुलाब के इत्र की सुगन्ध का अनुभव होने लगता है।"

वे लड़कियाँ फिर अचरज से कह उठीं, "गुलाब का इत्र !"

"गुलाब का इत्र ?"

निर्मला ने खीझ कर जवाब दिया, "हाँ हाँ, गुलाब का इत्र। तुम्हें तो हर बात में शंका होती है। उनकी अपनी विशेष रुचि थी। वे मुझसे कहते कि उर्वशी ! तुम लाल साड़ी में बहुत अच्छी लगती हो। बिलकुल दुलहिन दिखती हो।"

निर्मला की सहेलियाँ फिर एक साथ चौंक कर बोल उठीं, "लाल ! लाल साड़ी ? लाल साड़ी में दुलहिन जैसी लगती हो !"

कमरे में बिजली का पंखा लगा था, फिर भी उन चारों ने रूमाल से मुख का पसीना पोंछा।

निर्मला आगे कहने लगी, "वे संगीत के बड़े शौकीन थे। एक गीत उन्हें बड़ा पसन्द था—'मेरे देवता लो मेरी आरती !' उन्होंने सैकड़ों बार वह गीत मेरे मुख से सुना था। और जब मैं गाती—'मैं जोगन बनूंगी तुम्हारे लिये'—तो वे कहते, "उर्वशी, जोगन बनना बड़ा कठिन काम है।"

वे लड़कियाँ सहसा फिर चौंक पड़ीं और प्रत्येक के मुख से बरबस निकल पड़ा, "मेरे देवता लो मेरी आरती।!" वे कनखियों से

एक दूसरी को ओर देखतीं और फिर बड़ी परेशानी से निर्मला को।

निर्मला के मुख पर अब विषाद का रंग चढ़ गया था। बड़ी दर्दीली कथा थी आगे। करुण स्वर से वह बोली, "और एक दिन वे अचानक मेरे पास आये और कहने लगे, "उर्वशी, आज मैं एक ऐसी बात कहने वाला हूँ जिससे पत्थर भी फट सकता है। भगवान तुम्हें शक्ति दे कि तुम इस आघात को सह सको।" निर्मला की आँखों से आँसू झरने लगे, गला रुँध गया। बड़ी कठिनाई से वह कहने लगी, "वे बोले कि उर्वशी, विधाता को यह स्वीकार नहीं है कि हम, और तुम एक हो सकें– मुझे डाक्टरों ने टी० बी० 'डिक्लेयर' कर दिया है। मैं अपने स्वार्थ के लिये तुमसे विवाह करके तुम्हारा जीवन नष्ट नहीं करूँगा। प्रेम का त्याग में प्रतिफलित होना ही प्रेम की सत्यता है।"

निर्मला गालों पर बहते हुये आँसुओं को साड़ी से पोंछने लगी। इधर उसकी वे चारों सहेलियाँ बड़ी विचलित हो गईं। उनके मुखों से एक साथ हो निकल पड़ा, "क्या कहा ? टी. बी. ! टी. बी. ! हो गया ?"

निर्मला आंखों को पोंछ कर कहने लगी, "वे कहने लगे, 'उर्वशी' मेरा जीवन अब व्यर्थ हो गया। तुम किसी भाग्यवान से शादी कर लेना। कभी मेरी भी याद कर लेना,–कि था एक अभागा जिससे मैंने प्यार करने की गलती की थी। अब बाकी जीवन मैं पर्वतराज हिमालय के अंचल में बिता दूंगा।"

निर्मला की वे चारों सहेलियाँ फिर चौंक पड़ीं–"ऐं ? क्या कहा ? हिमालय चले गये ?"

उन चारों को न जाने क्या हो गया था। ऐसा मालूम होता था कि कमरे से भाग जाना चाहती हैं।

निर्मला ने ज़रा सँभलकर फिर कहा "हाँ, वे चले गये और मैं अभागिन यहीं रह गई ! हाँ उनका नाम मैंने अभी तक छिपा रखा था। उनका नाम था, 'सुदर्शन' !"

"सुदर्शन ! सुदर्शन ! सुदर्शन ! सुदर्शन !" वे चारों सहेलियाँ एक साथ चीख उठीं !

निर्मला बड़े अचरज में पड़ गई। बोली, "आखिर तुम लोगों को हो क्या गया है ? पागल तो नहीं हो गईं ? अच्छा, अब तुम लोग सुनाओ, अपनी अपनी प्रेम कथा ! चल चल शीला, तू सुना अब !"

किसी के मुँह से एक शब्द भी न निकला। निर्मला ने बारी बारी से कमला, विमला, सन्ध्या, उषा सबसे अपनी कहानी कहने का आग्रह किया। पर कोई भी एक शब्द न बोली। सब की सब मूर्तिवत् स्थिर बैठीं थीं।

निस्तब्धता के दस मिनट बीत गये। निर्मला को अब क्रोध आ गया। रोष-पूर्ण स्वर में वह बोली, "मैं सब समझती हूँ। तुम लोग सब धूर्त हो। मेरी बात सुनकर अब अपनी कहानी छिपाना चाहती हो। ठहरो अभी देखती हूँ।" निर्मला ने एक झपट में टेबिल पर के पाँचों चित्र उलट दिये।

सबने आँख फाड़ कर देखा।

सब चित्र एक ही आदमी के थे। एक ही 'पोज़' था।

सब में नीचे कोने में लिखा था- 'सुदर्शन'। चारों की आँखें फटी की फटी रह गईं। सब अर्द्ध मूर्च्छित सी अवस्था में निश्चल अवाक् बैठी रहीं।

सहसा सड़क पर हल्ला हुआ। पड़ोसी रामलाल दादा चिल्ला रहे थे, "मारना साले को दो हाथ! दूसरों की बहिन बेटियों पर निगाह डालता है। ये लड़की बेचारी यहाँ से जा रही थी कि इस बदमाश ने मेरे देखते देखते उसे छेड़ दिया।"

पाँचों लड़कियों ने खिड़की से देखा। एक आदमी को पकड़े लोग खड़े थे। वह सुदर्शन था।

# 'रमता जोगी हूं'

"बीस साल हो गये इन टाँगों को निरन्तर चलते। जीवन की धारा, यौवन के ऊबड़-खाबड़ प्रदेश को पार करके, समुद्र के पास पहुँच गई हैं। अब कोई उथल-पुथल शेष नहीं रही। शांत, गम्भीर, मंथरगति से फिसलती जा रही है, कि एक दिन विराट सागर में अपने क्षुद्र अस्तित्व का विसर्जन कर दे।"

"....."

"अजी आप तो मज़ाक करते हैं। मैं कवि-अवि कोई नहीं हूँ। हाँ, नाट्य अवश्य कर सकता हूँ। २० साल से घूम रहा हूँ। सब तरह के लोगों से सम्पर्क होता है। मैं अगर कवियों में बैठ जाऊँ तो कवि दिखने लगूं; व्यापारियों में बैठ जाऊँ तो ऐसा लगे कि मैं जिंदगी भर 'नोन-तेल-गुड़' बेचता रहा हूँ; वकीलों में बैठ जाऊँ तो लोग समझें कि जिंदगी भर वकालत ही करता रहा हूँ; और अगर मैं बन्दरों में बैठ जाऊँ तो एकाएक वे भी मुझे अपने समाज से बहिष्कृत नहीं करेंगे।"

"....."

"हाँ थोड़ी दाल मँगा दीजिये। और देखिये मैं सबसे ज्यादा बेशर्म खाने में हूँ। माँग कर खा लेता हूँ--चोरी करके भी। भोजन

की चोरी को मैं अनैतिक कार्य नहीं समझता हूँ। तो जरा थोड़ी-सी ये खीर भी मँगाइये। हाँ तो मैं यह कह रहा था कि, गाँव छोड़ कर मैं शहर आ गया था। जिनके यहाँ मेरे रहने का प्रबन्ध किया गया था, वे बड़े धन-सम्पन्न व्यक्ति थे। माता तो मेरी पहले ही उस लोक चली गईं थीं। पिता जी ने गीली आँखों को पोंछ, मेरे सिर पर हाथ फेरा, आशीर्वाद दिया, और रुँधे गले से कहा, "जाओ बेटा। और मैं·····"

"··· ··· ··· ··· ··· ··· ··· ··· ··· ···"

"अरे, अब आप उनका नाम जानकर क्या करेंगे? मैंने ऐसा कोई काम नहीं किया कि आज मैं उनका नाम लेने का अधिकारी हो सकूं। उनका नाम लेने से उनका गौरव नहीं बढ़ेगा। मैंने तो उनको लजाने की क्षमता ही बटोरी है। उन्हें दो चुल्लू पानी भी तो नहीं देता हूँ।"

"··· ··· ··· ··· ··· ··· ··· ··· ··· ···"

"नहीं, नहीं। हलुआ बिलकुल नहीं। हाँ, खीर थोड़ी और चल सकती है। हाः हाः हाः हाः— मैंने कहा था न, मैं खाने में बड़ा बेशर्म हूँ। हाँ, तो बात का तार तो टूट ही गया, आपकी इस खीर से। हाँ तो—अच्छा, अच्छा—हाँ याद आया—तो मैं शहर आ गया। पिताजी, १५) में मेरा, छोटी बहन का और अपना पेट मुश्किल से भर पाते थे। मुझे कैसे पढ़ाते? और मेरी कुशाग्र बुद्धि उनके लिये एक मुसीबत बन गई थी। अगर मैं मूर्ख होता, तो वे मुझे कहीं १५—२० रुपयों की नौकरी दिलवा देते। पर मेरा ऊँचा नम्बर आया था, छात्र-वृत्ति भी मिली थी। अब मुझे पढ़ाना उनका

परम कर्तव्य हो गया था। ऐसा होशियार लड़का ग़रीब बाप के लिये आफत नहीं तो और क्या था।"

"....."

"जी नहीं; अभी कुछ नहीं चाहिये। मैं माँग लूंगा। संकोच करके भूखा उठ जाऊँ, ऐसा मूर्ख नहीं हूँ। रमता जोगी हूँ। मुफ्त माल खाने का आदी हो गया हूँ। शरमाता नहीं हूँ। हाँ, तो पिता जी ने मुझ से कहा कि, बेटा ये अपने बहुत नज़दीक के रिश्तेदार हैं। तुम निःसंकोच इनके यहाँ रहना। कालेज में नाम लिखवा देंगे। खूब मन लगाकर पढ़ना।"

"....."

"जी नहीं, व्यापारी नहीं थे। वकील थे। खूब अच्छी आमदनी थी। बड़े ही स्नेही स्वभाव के थे। मुझे बेटे की तरह घर में रखा। आज भी मुझे उनकी याद आती है। वकील साहब की पत्नी ने भी मुझ पर वात्सल्य बरसा दिया। मुझे प्रथम दर्शन में ही ऐसा लगा कि ये लोग न जाने कब से मुझे अपने हृदय में समेट लेने के लिये उत्सुक बैठे हैं। घर में वकील साहब की विधवा भौजाई थी और वकील साहब की लड़की थी, जो पढ़ती थी। लड़की का नाम नहीं बताऊँगा। पर बिना नाम रखे कथा कैसे आगे बढ़ेगी? तो कथा में उसका नाम –'रंजना'। आत्मीयता का ऐसा वातावरण मुझे मिला कि पहिले दिन से ही ऐसा लगने लगा कि मैं जन्म से ही इसी घर में रह रहा हूँ।"

"जो" नहीं वकील साहब को कोई लड़का नहीं था। और आपका कहना भी ठीक है; शायद इसीलिये उनका मुझ पर इतना स्नेह था।

वही एक लड़की थी उनकी। मैं वकील साहब को चाचा कहने लगा और उनकी पत्नी तथा भौजाई को चाची। बड़ी चाची का हाल यह था कि, वे प्रातःकाल उठ कर तीन घंटे भगवान की पूजा करती थीं, और दोपहर को तीन घंटे बैठकर निंदा कर लेती थीं। मुझे अचरज होता था कि चाची लौकिक और पारलौकिक धर्मों का कैसा सहज निर्वाह कर लेतीं हैं। ऐसा सन्तुलन और समन्वय अन्यत्र नहीं दिखता। पर वह बेचारी वकील साहब के आश्रय में रहतीं थीं। उनकी कृपा-संपादन का हमेशा प्रयास करती रहतीं थीं। उन पर अपना स्नेह प्रदर्शित करने के लिए जब रात को उनके जूतों की आहट सुन लेतीं, तब छोटी चाची से चिन्ता का अभिनय करती हुई पूछतीं, "क्यों छोटी, अभी लाला नहीं आए क्या ? बड़ी देर कर देते हैं। जमाना खराब है। जल्दी लौट आना चाहिए। मेरे तो प्राण सूख जाते हैं।" छोटी चाची सब समझती थीं। वे कह देतीं कि, आ गये। बड़ी चाची का यह नाट्य देखकर मेरा हृदय विषाद से भर जाता। बेचारी विधवा! अपने जीवन को आगे घसीटने के लिए, आश्रयदाता को प्रसन्न करने की कैसी कोशिश करती है! ये चाची मेरे आने के एक दो महीने बाद ही अपने भाई के घर चली गई, और फिर कभी नहीं आईं।"

"....."

"अरे हां! इस बार कथा ने भोजन का तार तोड़ दिया। बस एक पूड़ी और- बस!.....वकील साहब के यहाँ मुझे राजकुमार की तरह रखा जाता। कालेज में सबसे सुन्दर कपड़े पहिनता था। १० बजे कार में बैठकर कालेज जाता। शाम को फिर कार आकर कालेज के फाटक पर खड़ी हो जाती। मैं कार में बैठकर रंजना के कालेज जाता। वहाँ से उसे लेकर घर पहुँचता।

कालेज में मैं सबसे तेज विद्यार्थी गिना जाता था। इम्तहान में पहिला नम्बर आता। बाद-विवाद में सभा को मंत्र-मुग्ध कर देता। खेल के मैदान में मेरा झंडा गड़ा था। एम० ए० के बाद मुझे आई० सी० एस० में भेजने की योजना बन रही थी और·····"

"....."

"हाँ हाँ, उसके बारे में भी बतलाता हूँ। आप तो खासे रसिक मालूम होते हैं। वह भी कालेज में पढ़ती थी। और- और! और जब सब कह रहा हूँ तो यह क्यों छिपाऊँ कि, वह मुझे बहुत चाहती थी। उसकी स्मृति अभी भी मुझे बल देती है। उस समय वही मेरे हर प्रकार के कार्यों की प्रेरणा बनी थी। वाद-विवाद में भाषण देता तो ऐसा लगता कि उसी से कह रहा हूँ, उसी के लिये बोल रहा हूँ। परीक्षा में बैठता तो अनुभव करता कि, उसी के प्रश्नों का जवाब दे रहा हूँ। अब तो मैं यह भी नहीं जानता कि, वह कहाँ है! जहाँ भी हो सुखी रहे।"

"....."

"जी, नहीं—नहीं--बिलकुल नहीं। अब कुछ भी नहीं लूंगा। ज्यादा खिलाकर एक साधु की हत्या का पाप सिर पर लेंगे क्या? अब तो पानी मँगवा दीजिये और दाँत खोदने को एक तिनका। जरा ठहरिये मुंह-हाथ धो लूं फिर आगे कहूँगा।

"....."

"नहीं तौलिया नहीं चाहिये। यह इतना लम्बा कोपीन किस काम का? अरे साहब, हम मुफ्तखोरों को आप सद्गृहस्थ लोग भोजन दे देते हैं, यही क्या कम पाप है?"

"....."

"हाँ, हाँ कहता हूँ। आप तो इस क़दर उत्सुक हैं। मैं अब कालेज के तृतीय वर्ष में था। कभी-कभी, मैं पिता जी के पास गाँव भी जाता। मुझे देखते ही उनके नयनों से आँसू झरने लगते। मुझे हृदय से लगाये रहते। मैं भी रोने लगता। घर की दरिद्र अवस्था देखकर और पिता जी को हालत देखकर मेरा हृदय दुख से भर जाता। पिता जी के मुख पर उस समय हर्ष और विवशता की वेदना का जो मिश्रित भाव होता, उसे स्मरण कर आज भी मैं रो पड़ता हूँ। पिता जी चूल्हे के पास बैठकर खुद अच्छी रोटियाँ सेंकते। बर्तन उठाकर बाज़ार जाते और मेरे लिये घी लाते। गरम रोटियाँ चुपड़-चुपड़ कर बड़े उल्लास और आग्रह से मुझे खिलाते। माँ की याद आ जाती और उनके नेत्र फिर डबडबा आते। मेरे पहुँचने पर वे सीमा से बाहर ख़र्च कर देते थे। मेरी ऐसी खातिर करते थे मानों मैं उनका कोई मेहमान हूँ। फिर भी मैं आपको बतलाऊँ कि, मुझे वह खाना नहीं भाता था। मुझे वहाँ ठहराना भी अच्छा नहीं लगता था। मैं उस दरिद्रता से शीघ्र दूर भाग जाना चाहता था। मुझ पर दूसरा ही रंग चढ़ा था। आज सोचता हूँ कि मनुष्य भ्रम में पलता है और भ्रम को बनाये रखने का प्रयास करता है। वास्तविकता कैसी भयावनी होती है! उसे वह देखना नहीं चाहता। पिता जी के रोकते रोकते भी मैं किसी काम का झूठा बहाना करके उन्हें रोते छोड़कर शहर चला आता। दो दिन और बेटे को पास रखने की उनकी साध भी पूरी न हो पाती। आज सोचता हूँ तो अपने आपको धिक्कारता हूँ। मैंने उनकी एक भी आशा पूरी नहीं की। घर पर ही रहकर पेट पालता, तो भी उनकी छाती ठंडी पड़ती।

और अगर शहर ही आया था तो, उनकी आशा ही पूरी करता। न मैंने यह किया, न वह!"

"....."

"अजी हम फ़कीर लोग पान का क्या शौक करेंगे! हाँ, तो एक दिन रात को वकील साहब के साले बम्बई से आये। मैं थोड़ी देर तो जागता रहा; फिर जाकर सो गया। चाची ने उन्हें खाना खिलाया। फिर मेरे कमरे के दरवाजे के पास ही दोनों बहिन-भाई बैठ कर बातें करने लगे। आधी रात हो चुकी थी, गड़बड़ के मारे मुझे नींद नहीं आ रही थी। मैं चुपचाप मुँह ढाँके पड़ा था। चाची और उनके भाई की बातें साफ सुनाई पड़ती थीं।

चाची के भाई ने पूछा, "क्यों दीदी, यह लड़का कौन है?" चाची ने यथा सम्भव धीमे स्वर में कहा, "अरे वो तो गरीब लड़का है। दो रोटी खाता है; पड़ा है। यहीं कालेज में पढ़ता है।"

वे बोले, "इसके माँ-बाप नहीं हैं क्या?"

चाची ने उत्तर दिया, "माँ नहीं है, बाप है। मगर न होने के बराबर ही है।"

वे कहने लगे, "ये तुमने घर में अच्छी बीमारी नहीं पाली मदद ही करना था तो बोर्डिंग में रखवा देते।"

चाची ने कहा, "अरे तू तो समझता नहीं है। लड़का पढ़ने में बड़ा होशियार है। हमेशा पहिला आता है। और देखने में भी कैसा सुन्दर लगता है। बड़ा होनहार लड़का है। हम लोगों ने तय कर

लिया है, रंजना की शादी इससे कर देंगे। अपनी जाति में ऐसे अच्छे लड़के मिलते कहाँ हैं ? शादी करके विलायत भेज देंगे इसे।"

"मैं सब सुन रहा था। मेरा माथा घूमने लगा। नाड़ियों का रक्त उष्ण हो गया। ऐसा लगा कि हजारों बिच्छू एक साथ डंक मार रहे हैं। मेरे सिर की नसें जैसे फूट पड़ने वाली हों। रजाई के भीतर मुँह ढाँक रखना असंभव हो गया। भीतर जैसे भट्टी जल रही हो। चाची के शब्द कलेजे को बार-बार छेद रहे थे, "गरीब लड़का है। दो रोटी खाता है; पलता है ···· बाप है, पर न होने के बराबर है।" मुझे अपनी स्थिति का पहली बार ज्ञान हुआ। मेरी दरिद्रता उसी क्षण साकार हो उठी। सोच रहा था कि मैं गरीब हूँ, भुखमरी से बचने के लिये पाला गया हूँ। मेरे वे देवोपम दुखी पिता इन लोगों के लिये मरे के समान हैं। क्या गरीब पिता मरे के बराबर होता है ? मैं रोना चाहता था, खूब रोना चाहता था। पर मेरे शरीर की गर्मी ने आँसू भी सुखा दिये थे। मेरे अंग अंग में आग फुँक रही थी। मैं अपनी ही नजरों से गिर गया। मैं खरीदा हुआ जानवर था। मैं इसलिये पाला जा रहा था कि उनकी लड़की को पति मिल सके।

"मैं रात भर तड़पता रहा। चाची के शब्द तीर से चुभ रहे थे। —'गरीब लड़का है। दो रोटी खाता है, पलता है, ···· बाप है, मगर नहीं होने के बराबर है।' मैं पागल हो गया था। सबेरे अँधेरे में उठा। एक कुरता और एक पायजामा पहिने बाहर निकल पड़ा। फाटक पर आया तो सहसा पाँव रुके। जी में आया कि रंजना हमेशा के लिये छूट जायगी। मन ने कहा कि, ऐसी भावुकता में क्या रखा है ? रंजना से बिवाह, ऊँचा पद, सुखी जीवन— एक क्षण के लिये मेरे हृदय में दुर्बलता आई। मैं वापिस जाकर चुपचाप लेट रहने को सोचने लगा।

पर मेरे कानों में चाची के शब्द गूंज उठे "गरीब लड़का है, दो रोटी खाता है; पलता है, ....बाप है मगर नहीं होने के बराबर है।'

"मैं तेजी से चल पड़ा। एक बार रंजना के कमरे की खिड़की की ओर देखा। पहिले सोचा अपने उसी पिता की ओर चलूं, जिसे ये लोग मरा समझते हैं। पर फिर मन ने कहा कि उनकी समस्त आशाओं को अपने हाथ से नष्ट करके उनके पास कौन सा मुँह लेकर जाओगे? और मैं अब उनके पास गाँव में रहने योग्य रह भी नहीं गया था। मुफ्त में ऐश करने की आदत पड़ चुकी थी। परिश्रम की जिन्दगी में क्या जी सकता था? मैं अपनी कमजोरी जानता था। सोचने लगा कि, जब ऐसे अच्छे, बनते जीवन पर लात मारकर चला आया, तो अब क्या जीवन बनाऊँ? अब तो मैं जीवन को बराबद ही करूँगा।"

"आज बीस साल हो गये हैं। घूमता ही रहा हूँ। जिन्दगी को फ़ुटबाल की तरह 'किक' करता ही आ रहा हूँ। मेरे भीतर एक कसमसाहट है। एक ज्वाला धधकती है-- जो मुझे शांति से नहीं बैठने देती। ये है साहब मेरी कहानी। पर आप सरीखा धैर्यवान श्रोता भी इस घोर कलियुग में मिलना मुश्किल है।"

".....

"वकील साहब का नाम-धाम जानकर आप क्या करेंगे? किसी भले आदमी की प्रतिष्ठा पर गली-गली कीचड़ उछालता नहीं फिरूँगा।"

".....

"मेरा नाम? मेरा भी कोई नाम है? साधु-संतों, फ़कीरों

का भी कोई नाम होता है ! कुछ भी समझ लीजिये—ब्रह्मानन्द, माधवानन्द या मूर्खानन्द ।"

"....."

"जी ! क्या कहा ? आपकी सुसराल से भी कोई भाग गया ? हाँ जी, हजारों लड़के भाग जाते हैं आजकल तो । कहाँ सुसराल है आपकी ?"

"....."

"अच्छा, अच्छा । वकील हैं वे । बड़ी अच्छी बात है । तो—तो, अच्छा अब मैं चलूं ?"

"....."

"ये कहानी ? अजी नहीं, यह मेरी जीवन-कथा नहीं है । आप भी बड़े भोले हैं । मैंने कहा था न, मैं नाट्य कर लेता हूँ । बात यह है कि, जिन गृहस्थों के यहां भोजन करता हूँ, उनको भोजन की कीमत वहीं चुका देता हूँ । किसी को रामायण सुनाता हूँ, किसी को महाभारत; किसी को अकबर–बीरबल के चुटकुले । आप शिक्षित पुरुष हैं, इसलिये आपको एक कहानी सुना दी । कई साल पहले किसी मासिक पत्र में पढ़ी था ।"

"....."

"हाँ मजे का आदमी तो हूँ । बल्कि धूर्त हूँ । ऐसे ही जिंदगी कट गई है । थोड़ी और बची है । हाँ, तो आपकी ससुराल से भागा हुआ वह आपका साला तो नहीं मिला न ?"

"....."

"हाँ जी ! दुनिया बहुत बड़ी है । कोई कहीं भी अपना मुंह छिपाकर रह सकता है । अच्छा अब चलूं ? जय हो आपकी ।"

कहानी तो समाप्त हो गई । परिशिष्ठ में यह और जोड़ देना है–

वह साधु दरवाजे से निकलकर सड़क पर आया । उसी समय उस मकान की सड़क के पास वाली खिड़की से एक स्त्री–मुख निकला । साधु ने उसकी ओर देखा । आँखें चार हुईं । स्त्री की आँखों से दो बूंदें आँसू की चू पड़ीं । साधु की आँखों से भी बूंदें टपक गईं । वह तेजी से आगे बढ़ गया । अस्पष्ट स्वर में अपने आप ही कहता गया, "नहीं, नहीं, इतना नीच नहीं हूँ कि, तुम्हारी गृहस्थी में आग लगा दूं । भूल से आ गया था ।"

# 'अच्छा हूं'

दिन भर बोझा ढोने के बाद शाम को बैल की गर्दन जब जूए से खुलती है तो वह बड़ी फुर्ती से घर की तरफ बढ़ता है। घास-भूसा और आराम की उम्मीद उसके पाँवों में गति और हृदय में उमंग भरती है। लेकिन मध्यम श्रेणी का नौकर वह बैल है, जिसकी गर्दन से गुलामी का जूआ उतरता है तो गृहस्थी का जूआ जम आता है। इसलिये मैं दिन-भर स्कूल में पढ़ाकर वज़न से झुके कंधों को किसी तरह ढोता हुआ घर की ओर चलता, तो कोई उमंग नहीं आती थी। उस दिन ज्योंही शाम को मैंने घर का दरवाज़ा खटखटाया तो हाथ में थर्मामीटर लिये बहिन ने किवाड़ खोला। सबेरे मैं ३ खाटें बिछीं छोड़ गया था, अब चार खाटें बिछीं थीं। मैं उन खाटों की ओर उलझन से देखने लगा। ३ खाटें तो पहिचानी हुई थीं ——नीले कंबल के नीचे परसों से छोटी बहिन कमला मौत से छिपी सो रही थी। और लाल रजाई के नीचे मेरा भाई १५ दिन से बुखार से लड़ रहा था। और उस नीली रजाई के नीचे वृद्धा चाची थीं जो १०० डिग्री के बुखार में ११० डिग्री के बुखार की आवाज़ करती थीं। जो सबसे अधिक सेवा करा के सबसे कम की शिकायत करतीं थीं।

और यह चौथी खाट ? बहिन ने मेरी उलझन ताड़ ली। बोली "कृष्णा को भी बुखार आ गया।" कृष्णा मेरी आठ साल की भानजी थी। मैं कुर्सी पर बैठ गया।

बड़ी बहिन मेरी ओर देख रही थी। मैं जानता था वह क्या कहना चाहती है। और उसे भी मेरा उत्तर मालूम था। पर न उसकी हिम्मत पूछने की होती थी; और न मेरी उत्तर देने की। और फिर भी उसे पूछे बिना संतोष नहीं था; और मैं अपने ही उत्तर से भयभीत हो, उसके प्रश्न के पहले भाग जाना चाहता था।

आखिर उसने कहा, "भैया कमला को ये इंजेक्शन देना है। १५) में आयगा।"

मैंने बड़े कष्ट से कहा, "पैसा आज भी नहीं मिला।" मैं खिड़की से दूर आसमान की ओर देख रहा था। मुझे बहिन की ओर देखने का साहस नहीं हो रहा था।

यह बहिन, भाई की मुसीबत वर्षों से देखती आ रही है। उसने कहा "भैया फिर ?" मेरे मन में प्रतिध्वनि हुई —'फिर' ! यह भयावना 'फिर', हमारी जिन्दगी का साथी हो गया है। असंख्य 'फिर' एक के बाद एक आते रहते हैं, और 'फिर' का अन्त नहीं होता है। रोटी का 'फिर', कपड़ों का 'फिर', दवाई का 'फिर' ? सोचता हूँ क्या इस 'फिर' का अन्त मौत की सेज पर ही होगा ? मेरे मन में एक के बाद एक 'फिर' आने लगे। पैसा नहीं है, फिर ? कमला को इंजेक्शन नहीं लगेगा, फिर ! फिर क्या होगा ? फिर क्या होगा ? यह आखिरी 'फिर' कितना भयानक था।

मैं बेचैन हो उठ बैठा और जाकर कमला की खाट पर बैठ गया। बेहोश थी। भाई के देखने के लिये उसकी आँखें भी खुली नहीं थीं। बड़ी वाचाल थी वह कमला। और मैंने कई बार उसे बक-बक करने पर डाँटा था। लेकिन अब उसका मुंह खुलता नहीं था। कहीं मेरी बात तो उसने नहीं मान ली !

सोचने लगा बीमारी भी क्या पहली तारीख़ तक नहीं ठहर सकती ? क्या वह अपने शत्रु को तैयार होने के लिये समय भी नहीं देती ! लेकिन बीमारी कोई बहादुर दुश्मन थोड़े ही है, जो शत्रु को चेतावनी देकर हमला करे ; वह तो बीमार को गफ़लत में पकड़ती है, पीठ में धोखे से छुरा भोंकती है ।

मैं चुपचाप कमला की खाट पर बैठा था । कैसी निस्पंद पड़ी थी ! दुख से उसकी पहिचान न हो ऐसी बात नहीं थी । लेकिन यह दुख ? डाक्टर आकर दवा लिख गया था । कल भी लिख गया था । आज सबेरे जब आया तो पूछने लगा, "कल दवा दी थी ?" दवा मैंने नहीं दी थी। मैं दवा के लिये पैसे भी नहीं जुटा पाया था । पर डाक्टर से यह कैसे कहता ? मैंने यह कह दिया, "दी थी ।" वह परेशान होकर बोला, "लेकिन आज हालत क्यों गिर गई ? बड़ी ताकतवर दवाई थी वह । " पर ताकतवर दवाई को खरीदने के लिये इधर पैसों की ताकत भी तो चाहिये । बात टालते हुए कह दिया, "आज कल दवाइयाँ भी कमबख़्त ख़राब आने लगीं ।" मैंने डाक्टर को धोखा दिया; पर बीमारी को कैसे धोखा दिया जा सकता है ? डाक्टर ने एक परचे पर दवा का नाम लिखकर दिया और बोला, "यह दे देना । यह ज़्यादा ताकतवर है ।" वह परचा वैसे ही रखा रहा । शाम को वह और ताकतवर दवा का नाम लिख गया । वह दवा की ताकत बढ़ाता जाता था और इधर हमारी ख़रीदने की ताकत शून्य हो गई थी । कमला के सिरहाने बैठे बैठे मेरी आँखों में दो आँसू आकर पलकों में उलझ गये ।

उधर भाई ने कराहकर पुकारा, "ओ भैया !" पलकों के भीतर से दो नए आँसुओं ने आकर पहिले के आँसुओं को बाहर ढकेल दिया ।

चाची ने पीड़ा से कराहा, "अरे बेटा !" और मेरी पलकों में फिर नए आँसुओं ने आकर पहिले वालों को बाहर ढकेल दिया।

८ साल की कृष्णा सहारे के लिये चिल्लाई, 'ओ मामा !" फिर दो नए आँसू मेरी पलकों में आ गये । यह कृष्णा, यह नन्दन, यह चाची और यह मातृहीना और पितृहीना कमला कितने विश्वास से, कितनी करुणा से मुझे पुकार रहे थे ? प्रत्येक मानो कह रहा था—'तुम्हारा ही तो हमें भरोसा है ! हम सब लोग तुम्हारे सहारे हैं ! तुम हमें मौत से बचा लो।' और मैं अपनी विवशता में बँधा कमला के सिरहाने बैठा हुआ उसके जलते हुए कपाल पर हाथ फेर रहा था ।

वह बड़ी बहिन जो मां की मृत्यु के बाद हम सब भाई-बहिनों की माँ बन गई थी, धोती से आंसू पोंछ रही थी और सबको समझा रही थी ।

उसने मुझे रोते देखा तो बोली, "भैया तुम ज्यादा चिंता मत किया करो । देखो कैसे सूखते जा रहे हो।" उसकी आँखें फिर डबडबा आईं । ऐसी वेदना से वह मुझे देखने लगी—मैं रो उठा। अपने आपके लिये मेरे हृदय में करुणा भर आई ।

मैं बेसुध सा बैठा था कि बहिन ने चौंका दिया । बोली, "भैया फिर ?" मैं उठा । मैंने कहा, "चोपड़ा के यहाँ जाऊँ, शायद कुछ मिल जाय।"

सड़क पर आ गया । बड़ी फुर्ती से चोपड़ा जी के बंगले की ओर चला । चोपड़ा जी बड़े आदमी थे । एक दो कम्पनियों के डायरेक्टर थे । उनके दो लड़कों को मैं पढ़ाता था—४०) माहवार में।

लेकिन मेरी ४०) की यह आमदनी बड़ी अनिश्चित थी। कभी ठीक समय पर नहीं मिलती थी। फिर भी मैं थोड़ी आशा से चोपड़ा साहब के बंगले पर पहुँचा।

बाहर एक लड़का खेल रहा था। कुछ डरता हुआ सा आया। समझा होगा, मैं उसे पढ़ाने आया था। मैंने पूछा, "तुम्हारे डेडी (पिता) कहाँ हैं?" 'पिता जी' शब्द में कुछ कम सम्मान का भाव समझकर ही शायद चोपड़ा जी ने बच्चों को 'डेडी' कहना सिखाया था।

लड़का बोला, "जी हां हैं।"

मैंने कहा, "ज़रा बुलाओ।"

मैं जाकर बरामदे में एक कुर्सी पर बैठ गया। न जाने कैसी आकुलता मैं अनुभव कर रहा था। मैं रोज ही वहां आता था पर उस दिन वहाँ बैठने में मुझे अजीब संकोच लग रहा था।

चोपड़ा जी टाई बाँधते हुए आये। बोले, "कहिये मास्टर साहब?" मेरे बोल नहीं फूट रहे थे। न जाने क्या मेरे गले को रुद्ध कर रहा था। मुझे ऐसा लग रहा था मानों मैं भीख माँग रहा हूँ। चोपड़ा जी ने कहा, "जल्दी कहिये मुझे बाहर जाना है।" मैंने बड़ी घबराहट में कहा, "मुझे ट्यूशन का पेमेन्ट चाहिये।" वह बोले, "अरे आज तो २९ तारीख ही है। पहिली को दो दिन हैं। आपको अभी से मैंने कहा," "मेरा महीना १५ को खत्म हो जाता है। अभी पिछले का नहीं मिला" वह बोले, "बतलाइये आप भी कैसा उल्टा हिसाब रखते हैं! पहिली से महीना रखना चाहिये। अब पन्द्रह; न इधर न उधर। तभी तो याद नहीं रहता। खैर दो एक दिन में ले लीजिये।"

वह जाने लगे। मैंने कहा, "पर मुझे सख्त जरूरत है।" वह बोले, "लेकिन मैं मजबूर हूँ। एक दो दिन पहले बतलाया होता तो बैंक से निकाल लेता।"

अधिक दीनता बतलाते मुझसे नहीं बनीं। यही बहुत था। शायद मेरी यह कमजोरी हो कि अधिक दीनता नहीं बतला सका।

मैं सड़क पर आया तो पसीने से तर था। दिमाग में एक आँधी सी उठ रही थी।

शाम हो चुकी थी। सड़क पर, दूकानों में बल्ब जगमगा रहे थे। मेरे पीछे से एकाएक चोपरा जी की मोटर मेरे ऊपर धूल थूकती हुई 'सर्र' से निकल गई।

धीरे धीरे सड़क पर चल रहा था। बाँयें ओर रामदास की लाउड स्पीकर की दूकान पर रिकार्ड बज रहा था "दुनियाँ में गरीबों को आराम नहीं मिलता।" मुझे क्रोध आ गया। झूठी कहीं की। लाखों रुपये रूप और यौवन को दिखाकर, हर माह पाने वाली महकती साड़ी में लिपटी 'एक्ट्रेस' दर्द का नाट्य करके, गरीबी का गाना गा रही है।

मैं धीरे धीरे सड़क पर जा रहा था। राह चलते हर आदमी को ध्यान से देखकर उसके मुख से उसके सुख-दुख का अंदाज लगा रहा था। यह मटकता हुआ, साइकल पर जाता हुआ नौजवान जरूर सुखी है। उसके जेब में पैसे होंगे। और यह सामने आता हुआ कैसा करुण मुख; जिसे देखकर रोना आ जाय। वह अपने मित्र से हँसकर 'जै राम जी' कर रहा है। लेकिन उसकी हँसी भी कैसी रो रही है! हँसी से मिलकर विषाद की छाया और घनी हो गई है।

और वह जो सेठ पेटी में से नोटों की गड्डी निकालकर गिन रहा है, कैसा सुखी दिखता है ? अगर इन हज़ारों में से बीस पच्चीस मुझे दे दे, तो मैं भी कैसा प्रसन्न हो जाऊँ ? और उसको भी कुछ कमी न पड़े।

लेकिन यह तो संभव नहीं है। एक का धन दूसरे के पास कैसे आ सकता है ? क्या उससे मांगूं तो दे देगा ? हरगिज़ नहीं। तो क्या चुरा लूं या लूट लूं ? विवेक बोल उठा--"अनुचित ! अनैतिक !" इतना क्रोध आया मुझे इस विवेक पर, बेहूदा बीच में बोल पड़ा। चाहा कि इस विवेक को पत्थर से चूर चूर कर दूँ ! नैतिक और अनैतिक के बंधन लगाता है कमबख़्त !

इसी समय सहसा घर का चित्र आँखों में झूल गया, कमला को निमोनिया ! १५) का इंजेक्शन और-"ओ भैया ?"

'अरे बेटा ?'

'ओ मामा ?'

और बड़ी बहन की लम्बी सांस और, "भैया फिर ?"

मैं फिर से इस 'फिर' के चक्कर में पड़ गया। फिर क्या होगा ? ओफ ! एक साथ असंख्य शूल मेरे मस्तक में चुभने लगे।

मैं म्युनिसिपल दफ्तर के सामने आ गया था। खा तो अहाते में बड़ी भीड़ थी। एक आदमीसे पूछा, "क्यों भैया ये कैसी भीड़ है ?"

वह बोला, "मेहतरों" को तनख़्वाह मिल रही है ?"

मैंने कहा, "पर आज तो २९ ही है ?" वह बोला, "एडवांस में मिल रही है। परसों दीवाली है न ? इन को न दो तो ये काम बंद कर दें। और तीन दिन में सारा शहर 'संडास' बन जाय। इनसे सर-

कार भी डरती है।" मैं ठिठक गया। इनको तनख़्वाह पहले ही मिल रही है ? और मुझे पिछले माह की नहीं ! इनसे सब डरते हैं ! ये काम बंद कर दें तो तीन दिन में शहर संडास हो जाय !

और मुझे तनख़्वाह नहीं मिली। मुझसे कोई नहीं डरता। लेकिन हम लोग अगर काम बंद कर दें, तो पूरी पीढ़ी के दिमाग संडास बन जावें।

लेकिन काम बंद कर ही कहाँ सकते हैं, हम लोग सब ? हम लोग शिक्षित हैं, सभ्य हैं। शिक्षा और सभ्यता ने हमें बुज़दिल बना दिया है। कायर हो गये हैं हम सब। हम पिटने के आदि हो गये हैं।

मेरा क्रोध भड़क उठा। क्रोध अपने ऊपर, अपनी जाति के ऊपर और यह क्रोध जाकर चोपड़ा पर अटक गया। यह नर-पशु चोपड़ा का बच्चा ! अब 'क्लब' गया है, तो क्या वहाँ दो चार सौ का जुआ न खेलेगा ? और मुझे इसने बीस रुपये भी नहीं दिये ! कल ट्यूशन भी छोड़ दूंगा ? लेकिन छोड़ दूंगा तो ख़र्च कैसे चलेगा ? मेरा दुर्बल क्रोध इस विचार के साथ ही समाप्त हो गया। चोपड़ा को मैंने बरी कर दिया।

सोचा भाग्य ही है मेरा ऐसा। हर कायर को छिपाने के लिये भाग्य की दीवार तैयार रहती है। सोचा—यह मेरा दुर्भाग्य है। लेकिन सौभाग्य से परिचय ही जिसका नहीं है, उसे यह दुर्भाग्य भी स्वीकार करते नहीं बना। मैं इसे दुर्भाग्य कैसे कहूँ ? अगर यह दुर्भाग्य है तो सौभाग्य भी होता ही होगा ! कैसा होता है यह अब तक कहाँ जाना था।

फिर मेरे दिमाग में सैकड़ों सुइयाँ एक साथ चुभ गईं।

"भैया कमला को निमोनिया है।"

'ओ भैया!'

'ओ बेटा!'

'ओ मामा!'

'भैया फिर ?'

क्या करूं ? किस पर भरोसा करू ? भगवान ? उसके तो नाम से मुझे चिढ़ हो गई थी। उसे तो मैंने उसी दिन त्याग दिया था जिस दिन मेरे एक मंद बुद्धि-पर धनवान साथी को उसी बेईमान ने पाँच हजार रुपयों में एम. ए. का फर्स्ट क्लास खरीद दिया था और मुझे सेकेन्ड में खसका दिया था।

घड़ी में देखा। दस बज गये थे। सोचा, क्या करूँ ? घर जाऊँ ? लेकिन बिना पैसे के घर कैसे जाऊँ, और क्यों जाऊँ ? दवा से ही तो कमला अच्छी होगी। मैं क्या कर लूंगा ? बिना दवा के कैसे बहिन के सामने जाऊँगा। वह बेचारी आशा लगाये बैठी होगी कि अब आता है भैया! अब आता है। मैं माथा पकड़ कर एक पुलिया पर बैठ गया।

सामने सिनेमा घर था। मैं एकाएक उठा और एक टिकिट खरीद कर सिनेमा में बैठ गया। ३ घंटे बैठा रहा। पर्दे पर एक ही दृश्य चलता रहा-चार खाटें पड़ी हैं। एक स्त्री खड़ी रो रही है। एक आदमी खाट पर बैठा एक लड़की के सिर पर हाथ फेर रहा है। एक खाट से कराह उठती है - 'ओ भैया' फिर दूसरी से 'ओ बेटा" फिर तीसरी से 'ओ मामा'! वह स्त्री लंबी साँस छोड़कर कहती है- 'भैया फिर ?' मैं रोने लगा। बीच बीच में आसपास के लोग पर्दे की

ओर देखते हुए हँस पड़ते तो मुझे विस्मय होता और उन पर क्रोध भी आता।

रात को एक बजे सिनेमाघर से बाहर निकला। आठ घंटे घर से निकले हो गये थे। न जाने घर में क्या हाल है? मेरे रोंगटे खड़े हो गये। फिर भी मेरा मन घर जाने से घबराता था। मैं दिन निकलते तक सड़कों पर घूमता रहा। अंधकार में घर पहुँचने में मुझे डर लगता था।

सबेरे घर पहुँचा। मन आशंका से भरा हुआ था। दूर से ही चाची की चीख सुनाई पड़ी – "अरी बेटी कमला!" मैं समझ गया, कमला भाई के घर की मुसीबत से छूटकर चल दी। बरामदे में पहुँचा तो देखा फर्श पर कमला पड़ी है–पर कमला वहाँ कहाँ थी! खाली पिंजड़ा था। बड़ी बहिन मुझे देखते ही चिपटकर चीत्कार करके रोई "अरे भैया तू कहाँ था रे! कमला चली गई! अरे, तेरी याद करते [illegible] गई।"

चाची का बुरा हाल था। रोते रोते बोलीं, "अरे पापी! उसका जाते जाते मुंह तो देख लेता? एक ही बार होश आया तो दो तीन बार चिल्लाई 'भैया! भैया!' और आँखें फ़ाड़ कर कमरे भर में देखने लगी और बस जो आँखें बंद की, सो की। अरे तू रहा कहाँ रात भर?"

मेरी आँखों में आँसू नहीं थे। कमला चली गई। मेरी याद करती चली गई। जिसने उसे कोई आराम नहीं दिया, जो उसे मौत के मुंह में छोड़कर भाग गया, उसकी याद करते चली गई!

सामने कमला की लाश पड़ी थी। मैंने मुंह उघाड़ कर देखा। आँखें बंद, मुंह बंद, आखरी कराह अपनी रेखा मुंह पर खींच गई थी?

बड़ी बहिन फिर फूट फूट कर रोने लगी, "अरे भैया दो बजे प्राण निकले रे ! अरे 'भैया' के सिवा और कुछ नहीं बोली रे ! अरे आखरी बार तो उससे मिल लेता रे ! तू रात भर रहा कहां ?"

पड़ोसियों ने भी पूछना शुरू किया "आप रात भर रहे कहां मास्टर साहब ?"

इतने में एक लड़का बोला, "रात को तो मास्टर साहब सिनेमा देख रहे थे ।"

सब चकरा गए। मैंने विरोध नहीं किया। उन सबको विश्वास हो गया।

चाची बोलीं, "कैसा निर्दयी है रे ! घर में तेरी बहिन मर रही है और तू तमाशा देखता रहा !"

भाई भी क्रोध से बोला, "तुम से अब हम क्या कहें ? हम लोग मर जायें, तो भी तुमको फ़िकर नहीं होगी ! इंजेक्शन लेने गये थे और सिनेमा देखते रहे ।"

सबकी आँखें मेरी ओर उठ गईं । सब मानों मुझसे कह रहीं थीं कि तू हत्यारा है। सिर्फ बहिन की आँखों से धार चल रही थी और आँखों में मेरे प्रति दया थी। वह अपने भाई को खूब जानती थी । चाची और भाई से बोली, "तुम लोग ये क्या कहते हो ? सब झूठ है । वह ऐसा नहीं कर सकता !"

भीड़ में से एक पड़ोसी बोला, "चलो भाई, अब मिट्टी सुधारने की तैयारी करो ।"

उसका मतलब था कि कफ़न और लकड़ी का प्रबन्ध करो। बीस

पच्चीस रुपये खर्च करो। इतने से तो उसकी दवा आ जाती और वह बच जाती।

पड़ोसियों ने हम लोगों की कठिनाई समझी। एक दो स्त्रियाँ बहिन के पास आईं और कहने लगीं, "बाई इसमें सकुचाने की कोई बात नहीं। हम कुछ रुपया दिये देते हैं अभी।" एक दो आदमियों ने मेरी ओर इस दृष्टि से देखा कि हम रुपये देते हैं। मुर्दे के लिए सबके घर से रुपये निकल आये थे, जिन्दा आदमी के लिए निकलना आसान नहीं है।

मैं होश में नहीं था। या शायद पहली बार होश आया। मेरे मन ने कहा, "नहीं जिसे दान की दवा नहीं खिलाई उसे दान का कफ़न उढ़ा कर नहीं भेजूंगा।"

मेरे मन में पौरुष जाग उठा था। सोच रहा था– "अगर कल चोपड़ा रुपये दे देता तो कमला को आज कफ़न की ज़रूरत न पड़ती।"

मैंने सोचा "अब इसे चोपड़ा के पैसों का ही कफ़न उढ़ाउँगा।" मैं चिल्लाया, "ठहरो मैं रुपये लेकर आता हूँ।" और मैं वहाँ से भागा।

और इसके बाद जो हुआ सबको मालूम है। वह सब तो पुलिस के रिकार्ड में है, अदालत के रिकार्ड में हैं और इस जेल के रकार्ड में है। चार साल हो गये हैं। तीन साल और रहना है। अच्छा हूँ। बहुत अच्छा हूँ।

# क्रान्ति हो गई !

एक समय किसी देश में चारों ओर से क्रान्ति पुकार उठने लगी ।

अन्याय-पीड़ित, शोषित वर्ग के अधिकारों की माँग एकदम उभर पड़ी ।

सर्वत्र एक ही माँग गूंज रही थी– "क्रान्ति ! क्रान्ति ! क्रान्ति !"

कारखानों के मजदूर छुट्टी के समय जब गन्दे कपड़ों में बँधी सूखी रोटियाँ निकाल, उन्हें पानी के सहारे कण्ठ के नीचे उतारते, तो एक ही बात कहते, "अब क्रान्ति होनी ही चाहिये ।"

शिक्षक पढ़ाते हुए और किसान हल जोतते हुए क्रान्ति की बात ही सोचते ।

होटलों में, बाजार में, बसों में, रेलों में, चौराहों पर और चौपालों पर एक ही स्वर उठता था, "क्रान्ति चाहिये ! क्रान्ति चाहिये ! "

कवि अपने गीतों में क्रान्ति का आह्वान करते ।

लेखक तरुणाई को गर्म खून की सौगन्ध देकर क्रान्ति के लिये उभारते ।

एक ही स्वर जमीन से उठकर आसमान को छेद रहा था– "क्रान्ति ! क्रान्ति ! क्रान्ति ! "

राज्यसत्ता क्रान्ति की इस पुकार से भयभीत हुई । राजा का हृदय दहला । मंत्री घबड़ाये । नौकरशाही सकपकाई । सत्ता, वैभव, ऐश्वर्य उन्हें हाथ से खिसकते नज़र आये ।

राजा ने मंत्रियों को बुलाया और उनसे सलाह की । उन्होंने एक तरक़ीब निकाली ।

दूसरे दिन उन्होंने राज्य के सबसे बड़े व्यापारी को बुलाया और उसे योजना समझाई ।

दो तीन दिनों बाद देश के तमाम अखबारों में पहिले पृष्ठ पर मोटे मोटे अक्षरों में उस बड़े व्यापारी का यह वक्तव्य छपा—"क्रान्ति होनी चाहिये । मनुष्य को मनुष्य का अधिकार मिलना चाहिये । राज्य सत्ता को पलट देना चाहिये । जनता की सच्ची सरकार क़ायम होना चाहिये ।"

उस राज्य में बड़े बड़े व्यापारियों के चिकने पन्नों वाले, सुन्दर कवर के, अनेक ख़ूबसूरत अख़बार निकलते थे । सबने उसकी बात को प्रमुखता से छापा । वह बड़ा व्यापारी था । सब लोग उसे जानते थे । उसका नाम सबने सुना था । लोगों ने कहा, "कैसा निर्भीक है !"

बस वह सबेरे व्यापारी था, शाम को नेता हो गया ।

इधर अनेक देश भक्त, क्रान्तिवीर, किसानों और मजदूरों में क्रान्ति की तैयारी कर रहे थे ।

कुछ दिनों बाद उस व्यापारी ने देश के तमाम व्यापारियों को मिलाकर 'क्रान्तिकारी दल' की स्थापना कर ली ।

और एक दिन देश के तमाम अखबारों में उस व्यापारी की विभिन्न तस्वीरों के साथ छपा—"क्रान्ति हो गई ! राजसत्ता

पलट गई ! राजा गद्दी से उतार दिया गया ! क्रान्तिकारी दल ने सरकार को ख़रीद लिया। अब जनता के सच्चे प्रतिनिधि क्रान्तिकारी दल का राज्य होगा।"

अख़बारों में बात छपी तो सर्वत्र फैली और गूँजी, "क्रान्ति हो गई ! क्रान्ति हो गई !"

और लोगों ने सोचा, "अब करने को क्या रह गया ? क्रान्ति तो हो ही गई।" और सर्वत्र मरघट सी मुर्दनी छा गई। लोग निष्क्रिय हो गये। सब पहले जैसा ही चलता रहा। राजा वही, मंत्री वही, नौकरशाही वही। वही अन्याय, वही शोषण, लेकिन लोग शान्त ! उन्होंने मान लिया कि क्रान्ति हो गई।

और इधर वे क्रान्ति करने वाले वीर सोचने लगे, "यह क्रान्ति बिना किये कैसे हो गई ! अभी हमने तो कुछ किया नहीं है। लोगों ने कुछ किया नहीं है। फिर यह कैसी क्रान्ति हो गई ? यह क्या हो गया ? यह क्या हो गया ?"

# सुधार—

एक जनहित की संस्था में एक बार कुछ सदस्यों ने आवाज उठाई, "संस्था का काम बड़ा असंतोषजनक चल रहा है। इसमें बहुत सुधार होना चाहिये। संस्था बरबाद हो रही है। इसे डूबने से बचाना चाहिये। इसको या तो सुधारना चाहिये या भंग कर देना चाहिये।"

संस्था के अध्यक्ष ने पूछा कि कौन कौन सदस्यों को असंतोष है।

१० सदस्यों ने असंतोष व्यक्त किया।

अध्यक्ष ने कहा, "हमें सब लोगों का सहयोग चाहिये। सबको संतोष हो, इसी तरह हम काम करना चाहते हैं। आप १० सज्जन क्या सुधार चाहते हैं, कृपाकर बतलावें।"

और उन दस सदस्यों ने आपस में विचार करके जो सुधार सुझाये वे ये थे –

'संस्था में ४ सभापति, ३ उप सभापति और ३ मंत्री और होना चाहिये –'

दस सदस्यों को संस्था के काम से बड़ा असंतोष था।

# साड़ी का रंग

एक चीनी दार्शनिक ने हिसाब लगा-कर बतलाया है कि आदमी के जीवन की तमाम बेवकूफ़ियों का वज़न उसके शरीर के वज़न से अधिक होता है। ये फ़िलासफ़र लोग भी बड़ी विचित्र बात कहते हैं, विशेषकर चीनी फ़िलासफ़र। कोई उनसे पूछे तो आफ़त ही मोल ले कि हे मनीषी! आख़िर बेवकूफ़ियाँ मन-सेर-छटाक में तौली कैसे जायेंगी? दार्शनिक की बात को व्यवहार की कसौटी पर कसना भी तो एक बेवकूफ़ी ही है। इसीलिये हम इस बात को जैसा का तैसा मानकर ज़िन्दगी की एक वज़नदार बेवकूफ़ी की चर्चा करते हैं। 'बेवकूफ़ी' शब्द से चौंकने की ज़रूरत नहीं है – बेवकूफ़ी कोई बुरी चीज़ नहीं है। –'हसीन ग़ुनाह' की तरह हसीन बेवकूफ़ी भी होती है, जो करते समय बड़ी प्यारी लगती है और याद करने पर अधिक प्यारी। इतने साल गुज़र गये पर अभी भी जब कभी व्यस्त जीवन से कुछ क्षण चुराकर याद के द्वारा खोलकर बैठता हूँ तो अनेक धुंधली आकृतियाँ मेहमान बनकर घुस पड़ती हैं। एक यह भी है जिसका रंग ज़रा भी फीका नहीं पड़ा।

ज़िन्दगी का जो अब्र भाटा है वह उन दिनों ज्वार था। याने जवानी चढ़ रही थी। एक तो चढ़ती जवानी वैसे ही बड़ी आफ़त; और उसपर हमने एक आफ़त और मोल ले ली–रुचि को साहित्य की ओर मोड़ा। पढ़ने लगा। अंग्रेजी, हिन्दी, उर्दू, बँगला के ग्रंथों में गड़ा

रहने लगा। और साहित्यिक से साहित्यकार बन जाना भारत में बहुत आसान है, जहाँ हर हिन्दी जानने वाला कवि होता है। मैंने पढ़ा, 'प्राण की यह बीन बजना चाहती है।' और अकबर साहब की चुनौती पढ़ी– 'बग़ैर इश्क के जवानी कटनी नहीं अच्छी।' प्राचीन में गोता लगाया तो बिहारी का प्रलोभन, 'किते न औगुन नर करै, बैनै चढ़ती बार'। और मुझे लगा कि प्रेम करना चाहिए। वह साहित्यिक ही क्या जो प्रेम न करे? जो प्रेम किये बिना साहित्यकार होने का दंभ करता है वह झूठा है। उसने साहित्य के मर्म को न पाया। सागर में गहरे नहीं डूबा, किनारे पर खड़ा खड़ा लहरों की अठखेलियाँ देखता रहा अभागा!

तो हमने भी सोचा कि हमें भी अपने अंदर के साहित्यकार के प्रति वफ़ादार होना चाहिए। याने प्रेम करना चाहिए। अपने लिये नहीं, तो कम से कम साहित्य के लिये।

और हमने प्रेम करने की एक विस्तृत योजना बनाई। योजना बन गई, जैसी सब योजनायें बनती हैं। लेकिन हमारी योजना में एक कठिनाई शुरू में ही आ गई। ये कि प्रेम करने के लिए स्त्री चाहिए। हमने इसका विचार भी नहीं किया था कि इस प्रेम–योजना में स्त्री की जरूरत भी पड़ेगी! और अब योजना कार्यान्वित करने लगे तो ज्ञात हुआ कि बिना स्त्री के प्रेम हो ही नहीं सकता।

खैर, यह कठिनाई भी अनायास ही सुलझ गई; यों कि पड़ोस के खाली मकान में एक परिवार आकर रहने लगा और उस परिवार में एक तरुणी भी थी। सुन्दर थी, पढ़ी लिखी थी। और लड़की का नाम बताये बग़ैर आपका काम चलेगा नहीं–इसलिए उसका नाम 'अरुणा'।

मैं उस शहर के एक अख़बार में काम करता था और फुटकर कविताओं से भी कुछ कमा लेता था। याने आकाश–वृत्ति पर जी रहा

था; पर अकेला होने से आर्थिक कष्ट कभी सताता नहीं था। उस समय तक मेरी क़लम काफी प्रसिद्ध हो गई थी और मेरी कविताएँ बड़े चाव से पढ़ी जाती थीं। मैं कवि कहलाता था।

मैं उस घर में अकेला ही रहता था। एक नौकर भी था पर उसको अपने में मिलाकर बोलने की उदारता अब तक मुझमें नहीं आ पाई। अकेला आदमी और कलाकार जैसा रहता है वैसा ही रहता था। फर्श अस्तव्यस्त! और बिछौने पर कागजों और किताबों का ढेर; सर्वत्र सिगरेट की राख और सिगरेट के आधे हिस्से; एक कोने में मैले कपड़े, जिनमें से कल फेंका हुआ कुरता आज निकाल कर पहन लेता था। २४ घंटे में उसका मैलापन विस्मृत हो जाता था। हर चीज ठीक वहीं थी जहाँ उसे न होना चाहिए।

लेकिन इस अस्त-व्यस्तता में भी एक आशा थी जो योजना के साथ ही मेरे मन में आ जमी। मैंने कहानियों में पढ़ा था कि लापरवाह आदमी से कुछ स्त्रियाँ प्रेम करने लगती हैं। मैंने पढ़ा था कि लापरवाह कलाकार के कमरे में एक युवती घुस आती है और उसके सामान को तरतीब से जमा देती है; कमरा साफ कर देती है और फिर प्रेम हो जाता है। फिर युवक एकाकी कलाकार को बुखार आता है; खूब ११० डिग्री—कहानी का बुखार ठहरा; खूब ही चढ़ता है। और फिर वही युवती आकर सेवा करने लगती है, सिर दबाती है, मलहम लगाती है। और फिर प्रेम हो जाता है। मैं रोज सबेरे जब सोकर उठता तो अपने गंदे कमरे को देखकर सोचता कि जरूर एक दिन अरुणा इस कमरे में आयगी। इसी आशा से मैं प्रति दिन सवेरे कमरे में कचरा बिखेर देता। अगर कोई चीज नौकर ठीक स्थान पर रखता तो मैं उसे वहां से उठा कर कहीं फेंक देता। कमरे में जितनी लापरवाही दिखेगी उतना ही प्यार बढ़ेगा।

दिन पर दिन बीतते गए पर वह आई नहीं। और मैं रोज फ़र्श पर कागज और सिगरेट की राख बिछाए इस आशा में बैठा रहता कि वह आयगी जुरूर।

और एक दिन वह आई। अपने भाई के साथ आई। और मेरी हालत बेकौल अकबर के ऐसी हो गई कि 'हम उनको देखते हैं, और घर को देखते हैं।'

कहने लगी "आप की रचनायें जहां मिल जाती है मैं जरूर पढ़ती हूं। आप बहुत अद्भुत लिखते है। आप से एक प्रार्थना है"

"कहिये कहिये!" मैंने कहा।

वह बोलीं, "हम लोग नारी समिति में एक नाटक खेलना चाहती हैं। आप उसके गीत लिख दीजिये।"

कविता मैं कभी भी किसी भी विषय पर लिख लेता हूँ। भर बरसात में बसंत के गाने लिख लेता हूँ। मैंने कह दिया," मैं कल आपको लिख दूंगा।"

एक दो बात करने के बाद बोलीं, "आपका नौकर कहीं चला गया है क्या?"

"क्यों? कहीं भेजना है क्या? बाहर बैठा होगा।" मैंने उत्तर दिया।

वह बोली, "नहीं। इसलिये पूछा कि आपका कमरा कचरे और कागजों से भरा है। बड़ा बेतरतीब है।"

मैंने कहा, "नौकर तो है। पर अगर मालिक कमरे को गंदा

करनें और नौकर साफ करने की होड़ लगायें तो आख़िर मालिक ही जीतेगा न ?"

वह हँसी । चली गई ।

और मैं अकारण आठ बार स्नानागार गया और आठ बार कमरे में लौटा । किताबों को यहाँ से वहाँ फेंकने लगा । न जानें क्या गाता और बड़बड़ाता रहा । हवा में उड़ रहा था । पागल सा हो गया था । मेरी योजना चल निकली थी ।

मैं उस दिन दफ्तर से जल्दी आ गया । गीत लिखता रहा । रात को बारह बजे समाप्त करके सोया ।

दूसरे दिन वह उसी वक्त आई । मैंने उसे गीत दिये । उसने वहीं पढ़ लिया । ख़ुशी से गद्‌गद हो गई । कहने लगी, "बहुत अच्छा, लिख दिया आपने ।" प्रशंसा का – विशेषकर स्त्री के मुख से निकली हुई प्रशंसा का –रस जिसने लिया है वही मेरे इस आनंद को समझ सकता है । बाकी लोगों के लिये मेरे पास केवल हमदर्दी है कि 'कम्बख़्त तूने पी ही नहीं !'

मैं दफ्तर चला गया ।

शाम को जब लौटा तो देखा कमरे की हालत ही बदल गई है । किताबें ठीक स्थान पर, कागज सम्हाल कर रखे हुए, फर्श साफ । एक क्षण में मेरे विभाग में विद्युत गति से सब रहस्य आ गया । फिर भी मैंने नौकर से पूछा, "आज तो तूने बड़ा काम किया । तमाम कमरा साफ कर दिया ।" और वह बोला, "नहीं पंडत जी, सबेरे वाली बाई आई थी, वे ही सब साफ कर गई हैं ।"

मेरी दुनिया ही अब बदल गई थी। अब तो अरुणा प्रायः रोज ही मिलती। घंटों बातें होतीं। क्या बातें होती यह कोई नहीं समझता था। प्रेमी और प्रेमिका की बातों मे से कोई सार की बातें निकालना चाहे तो उसकी बेवकूफी है।

वह मेरे अहंकार को खूब तृप्त करती थी। मिलते ही मेरी प्रतिभा की प्रशंसा करती। मेरी किसी रचना की बात छेड़ देती थी। कहती कि आप बहुत बड़े आदमी होने वाले हैं। और मेरे अहं का इस प्रकार तुष्टीकरण भी उसके प्रति खिंचाव का एक बड़ा कारण था, यह मैं स्वीकार करता हूँ।

पर मैं उसे सच्चे हृदय से प्यार करने लगा था। वह भी मुझे बेहद प्यार करती।

मेरे साथ ही अखबार में काम करने वाले एक अधेड़ महाशय थे। उनके पास समझदारी की सनद सफेद बाल थे। मैंने उनसे मेरे इस प्रेम की चर्चा की क्योंकि प्रेम करने वाला दूसरे से अपनी बात कहे बिना चैन नहीं पाता। ये अधेड़ मित्र जिनका नाम वर्मा जी था चौंककर बोले, "यह अच्छा नहीं है। सब बेवकूफी है। ये स्त्रियां नागिनी होती हैं इनका काटा बचता नहीं है। तुम्हारी सब प्रतिभा नष्ट हो जायगी। तुम कहीं के न रहोगे। इस रास्ते को छोड़ो।" मुझे बड़ी चिढ़ आती है इस प्रकार की सलाह से। मेरा ख्याल है यह दुनिया अधिक सुखी होती अगर इसमें सलाह देने वाले कुछ कम होते। और आदमी की जिंदगी बरबाद करने वाले उसके शुभचिन्तक ही होते हैं। ये सलाहकार हृदय, मन और शरीर के सहज धर्मों को 'उचित अनुचित' के विरोधी दलों मे बाँट

कर आदमी के सामने 'यह करो' 'और यह न करो' की ऐसी उलझन खड़ी करते हैं कि बेचारा राह भूल जाता है।

मैंने वर्मा जी की बातों का ख्याल नहीं किया। बल्कि उत्तर दिया, "वर्मा जी मेरा तो जीवन सार्थक हो गया। इतना स्नेह मनुष्य में मेरी कल्पना के बाहर था। वह देवी है। अब इस जन्म में तो मौत ही हमें अलग कर सकती है।"

× × ×

एक साल बीत गया। मैं प्रेम के सागर में आपादमस्तक डूबा हुआ था। अरुणा का भी यही हाल था। एक दिन वह हरी साड़ी पहन कर आई। मैंने कहा," अरुणा यह हरा रंग मुझे बहुत बुरा लगता है। हरा कपड़ा न जाने क्यों कफ़न सा लगता है। तुम इसे न पहना करो"। वह बोली "अब कभी नहीं पहनूंगी। पर आप को कौन रंग पसंद है?" मैंने कहा "लाल। लाल साड़ी में तुम स्वर्ग की देवी लगती हो।" वह बोली, "अच्छा अब मैं लाल साड़ी ही पहिना करूंगी।"

उसके बाद जब वह मेरे पास आती तो अकसर लाल साड़ी पहन कर आती।

एक दिन मैं दफ्तर से जरा जल्दी आ गया। मैंने खिड़की से देखा अरुणा आ रही है –हरी साड़ी पहिने। वह मेरे कमरे के सामने से निकली, मुझे देखकर सहम गई। मैंने उसे बुलाया। बोला, "तुमने फिर हरी साड़ी पहिन ली?"

वह बोली, "आपको चिढ़ाने के लिये। आपको चिढ़ाने में मुझे मज़ा आता है।" वह खिलखिलाकर हंस दी।

वह कभी कभी इसी प्रकार हरी साड़ी पहन लेती। मैं चिढ़ता और वह हँसती। मैं भी हँस देता।

कभी कभी मैं रामगंज मुहल्ला अपने एक दोस्त (बल्कि घनिष्ट परिचित) के यहाँ जाता था। यह मित्र कालेज से मेरे साथ ही एम० ए० पास हुआ था और अब लाखों का कारबार करता था। नाम था विनोदकुमार शर्मा। बड़े ठाट से रहता था। और इसीलिए मैं उसके बुलाने पर नहीं जाता था, जब नहीं बुलाता तभी जाता था। मैं उसे ज्ञान करा देना चाहता था कि जब हम चाहेंगे तभी आयेंगे; उसकी लाख रुपयों की दूकान के मुलायम गद्दे हमें खींच न पावेंगे। तो कभी ऐसा भी होता कि मैं रामगंज जाता होता और उधर से अरुणा आती दिखती। हरी साड़ी पहिने देखकर मैं चिढ़ सा जाता और वह सहम सी जाती।

मैं पूछता, "कहाँ गई थी?"

वह कहती, "रामगंज। मेरी एक सहेली के यहाँ।" लौटकर जब वह आती तो मैं उससे कहता, "तुम फिर हरी साड़ी पहनकर मिल गई?"

और वह वैसे ही हँसकर कहती, "आपको चिढ़ाने के लिए। आपको चिढ़ाने में मुझे मज़ा आता है।"

एक दिन वह कहीं बाहर से आ रही थी--हरी साड़ी पहिने। मेरी निगाह बचाकर घर में चली गई पर मैंने उसे देख ही लिया था। थोड़ी देर बाद वह लाल साड़ी पहिनकर मेरे पास आ गई। मैंने अपने को धिक्कारा कि मैंने साड़ी के रंग के रूप में उसके लिए कितना बड़ा संकट खड़ा कर दिया है।

मैंने उससे कहा, "आज तो यह लाल साड़ी तुम्हें बहुत अच्छी लग रही है।"

वह बोली, "सबेरे से पहनकर आपकी राह देख रही हूँ। पर आप छुट्टियों के दिन भी ग़ायब हो गए।" मेरे हृदय को एक धक्का लगा उसके इस झूठ कथन से। सोचा, यह बेचारी कितना डर गई है मेरी इस रंग की सनक से।

यही क्रम चलता रहा। और मैंने तय कर लिया कि इससे शादी का प्रस्ताव कर दूंगा।

एक दिन मैं बुखार में पड़ा था। सिर में बड़ा दर्द हो रहा था। अरुणा मेरा सिर दबा रही थी। जब मैं पीड़ा से कराह उठता तो उसकी आँखों से आँसू निकल पड़ते। मैं उससे मन की बात कहने की तैयारी कर रहा था। मैंने कहा, "अरुणा मैं आज अपनी ज़िंदगी की सबसे बड़ी बात कहना चाहता हूं। मैं···"

सहसा उसका छोटा भाई आया। कहने लगा, "दीदी, जीजा जी आये हैं।"

वह एक दम उठदी। घर जाने लगी।

मैंने पूछा, "कौन आये हैं?

वह बोली, "हमारे बहनोई के भाई हैं।" वह चल दी। मुझे पीड़ा हो रही थी और वह एकाएक छोड़कर चल दी। मुझे कुछ अच्छा नहीं लगा। पर सोचा अतिथि घर में आया है—जाती नहीं तो कैसे बनता? पर मेरा प्रस्ताव उस दिन अधूरा ही रह गया।

मैं अच्छा हो गया। एक दिन बैठा हुआ अरुणा का इंतजार कर रहा था। वह बाहर से आती हुई दिखलाई दी। मैंने तय कर

लिया था कि उससे शादी का प्रस्ताव कर दूंगा। वह आकर बैठ गई। हरी साड़ी पहिने थी।

मैंने कहा, "आज तुम हरी साड़ी पहने हो।" वह चिढ़कर मेरी आशा के विरुद्ध बोली, "तो क्या इन हरी साड़ियों को फेंक दूं?" मैंने इतना कटु शब्द उसके मुंह से कभी नहीं सुना का। यह उसका पहला ही कटु वाक्य था। मैंने इधर उधर की बातें करके उसे शांत किया। वह रोने लगी। बोली, "मैंने आपके मन को दुखाया। आप मुझे माफ कर दीजिये।"

फिर उस दिन मैंने उससे शादी का प्रस्ताव नहीं किया। सोचा कल देखूंगा।

इसके बाद दो दिन तक वह नहीं आई। मैं बड़ी चिन्ता में था। तीसरे दिन सोचा मैं ही उसके मैं यहाँ जाऊँ. या उसके भाई को बुलाकर पूछूँ। कहीं बीमार तो नहीं हो गई?

इसी समय ४५ वर्षों के अनुभव से बोझीले वर्मा जी आये। कहने लगे, "कहिये कलाकार महोदय, क्या हाल है मुहब्बत के?"

मैंने कहा, "अब एक दो दिन में शादी रचाता हूँ।" वर्मा जी ने व्यंग की मुद्रा में कहा, "लेकिन उसकी तो शादी तय हो गई।"

"कब? किससे?" मैंने पागल की भाँति पूछा। वर्मा ने कहा, "विनोद कुमार शर्मा से। कल"

"कौन विनोद कुमार शर्मा?" मैंने पूछा।

वर्माजी बोले, "विनोद कुमार शर्मा जो रामगंज में रहते हैं। बवाई की दूकान है।"

मैं आसमान से गिर पड़ा। मुझे विश्वास नहीं हुआ।

मैंने कहा "नहीं वर्मा जी, झूठ है। यह हो ही नहीं सकता।"

वर्मा जी बोले, "यह हो ही गया है।"

"क्या उसने इसका विरोध नहीं किया?"

"विरोध? यह तो उसकी इच्छा से हुआ है।"

"इच्छा से हुआ है? गलत है। कहीं कोई बड़ा भ्रम है इस मामले में। अरुणा मुझे इतना प्रेम करती है। वह मुझे धोखा नहीं दे सकती।"

वर्मा जी ने सफेद बालों की ओर मेरा ध्यान खींच कर कहा, "आप तो भोले हैं। प्रेम करने का अलग आदमी होता है; शादी का अलग। प्रेम जिससे करती है शादी भी उसीसे करेगी यह जरूरी नहीं है। प्रेम हृदय की भूख है प्रेमी से तृप्त हो जाती है। पर शादी तो जीवन का सौदा है। तुम जैसे लापरवाह फ़कीर से कोई स्त्री प्रेम कर सकती है शादी नहीं। तुम्हारे पास दोनों बार भोजन भी उसे शायद न मिले। तुम्हारा प्रेम न तो खाया जा सकता है और न ओढ़ा जा सकता है। विनोद कुमार के पास लाखों की सम्पत्ति है—ठाट से रहता है। अरुणा को खूब सुख से रहने को मिलेगा। प्रेम की दौड़ में शायद तुम जीत गये हो, पर शादी की दौड़ में तो वह तुम्हें मात दे गया।"

मेरा सिर चकराने लगा। मैंने कहा, "लेकिन वर्माजी एक दिन में स्त्री ऐसी बदल जायगी, एक दिन में ही ऐसा निर्णय कैसे कर लेगी?"

वर्मा जी ने कहा, "एक क्षण में निर्णय कर सकती है। य करके ही जन्म लेती है।"

वर्मा जी चले गये। मैंने एक घंटे मौन बैठकर मन को कुछ संयत किया।

फिर सीधा विनोद के पास गया। वह घर पर ही था।

मैंने यथा संभव मुस्कराने का प्रयत्न करके पूछा, "सुना है शादी कर रहे हो ?"

विनोद बोला--"हाँ भाई कर रहा हूँ।"

मैंने कहा-"लेकिन यार मुझे बताया नहीं। एकाएक शादी का तय कर लिया।"

विनोद बोला, "एकाएक नहीं किया। तुम्हें बताया न होगा। तुम दो तीन महीने में तो मिलते हो। दो साल से प्रेम चल रहा है। अब शादी भी कर रहा हूँ।"

"दो साल से ?" मेरे मुंह से निकल गया। मैंने झट अपने को सँभाला।

पूछा, "अच्छा हो गया। कब शादी होगी ?"

विनोद बोला, "इसी माह तारीख चौबीस को। तैयारी शुरू हो गई है। ये देखो साड़ियाँ।"

उसने साड़ियाँ लाकर दिखाई। हरे रंग की दो साड़ियाँ थी। बोला, "मुझे हरा रंग बहुत पसंद है। लाल साड़ी तो मुझे कफन जैसी लगती है।"

× × ×

वर्माजी तब से इसे मेरी बेवकूफी कहते हैं और मैंने कभी इसका विरोध भी नहीं किया।

# मैं नर्क से बोल रहा हूँ !

हे पत्थर पूजने वालो ! तुम्हें जिन्दा आदमी की बात सुनने का अभ्यास नहीं; इसलिये मैं मरकर बोल रहा हूँ। जीवित अवस्था में तुम जिसकी ओर आँख उठा कर नहीं देखते उसकी सड़ी लाश के पीछे जुलूस बनाकर चलते हो। जिन्दगी भर तुम जिससे नफरत करते रहे उसकी क़ब्र पर चिराग़ जलाने जाते हो। मरते वक़्त तक जिसे तुमने चुल्लू भर पानी नहीं दिया, उसके हाड गंगाजी ले जाते हो। अरे तुम जीवन का तिरस्कार और मरण का सत्कार करते हो। इसीलिये मैं मरकर बोल रहा हूं। मै नर्क से बोल रहा हूँ।

मगर मुझे क्या पड़ी थी कि जिन्दगी भर बेज़बान रहकर, यहाँ नर्क के कोने से बोलता ! पर यहाँ एक बात ऐसी सुनी कि मुझ अभागे की मौत को लेकर तुम्हारे यहाँ के बड़े बड़े लोगों में चकचक हो गई। मैंने सुना कि तुम्हारे यहाँ के मन्त्री ने संसद में कहा कि मेरी मौत भूख से नहीं हुई, मैंने आत्महत्या कर ली थी। मारा जाऊँ और खुद ही मौत का जिम्मेदार ठहराया जाऊँ ? भूख से मरूँ और भूख को मेरे मारने का श्रेय न मिले ? 'अन्न! अन्न' की पुकार करता मर जाऊँ और मेरे मरने के कारण में भी अन्न का नाम न आवे ? लेकिन खैर, मैं यह सब भी बरदाश्त कर लेता। जिन्दगी भर तिरस्कार का स्वाद लेते लेते सहानुभूति मुझे उसी प्रकार अरुचिकर हो गई

जिस प्रकार शहर के रहने वाले को देहात का शुद्ध घी। लेकिन आज ही एक घटना और—यहाँ इस लोक में घट गई।

हुआ यह कि स्वर्ग और नर्क को जो दीवार अलग करती है, उसकी सेंध में से आज सबेरे मेरे कुत्ते ने मुझे देखा और "कुर-कुर" करके प्यार जताने लगा। और मेरे आश्चर्य और क्षोभ का ठिकाना न रहा कि मैं यहाँ नर्क में और मेरा कुत्ता उस ओर स्वर्ग में ! यह कुत्ता—मेरा बड़ा प्यारा कुत्ता; युधिष्ठर के कुत्ते से अधिक ! जबसे मेरी स्त्री एक धनी मित्र के साथ भाग गई थी तभी से यह कुत्ता मेरा संगी रहा; ऐसा कि मरा भी साथ ही। कभी मुझे छोड़ा नहीं इसने। बगल का सेठ इसे पालना चाहता था, सेठानी तो इसे बेहद प्यार करती, पर यह मुझे छोड़ कर गया नहीं, लुभाया नहीं। सो मुझे सुख ही हुआ कि वह स्वर्ग में आनन्द से है पर मेरे अपने प्रति किये गये अन्याय को तो भुलाया नहीं जा सकता। और भाई यह तुम्हारा मृत्युलोक तो है नहीं जहाँ फरियाद नहीं सुनी जाती; जहाँ फ़रियादी को ही दंड दिया जाता है; जहां लालफीते के कारण आग लगने के साल भर बाद बुझाने का आर्डर आता है। यहाँ तो फरियाद तुरन्त सुनी जाती है। सो मैं भी भगवान के पास गया और प्रार्थना की, "हे भगवन ! पृथ्वी पर अन्याय भोग कर इस आशा से यहाँ आया कि न्याय मिलेगा, पर यह क्या कि मेरा कुत्ता तो स्वर्ग में और मैं नर्क में ! जीवन भर कोई बुरा काम नहीं किया। भूख से मर गया पर चोरी नहीं की। किसी के आगे हाथ नहीं फैलाया। और यह कुत्ता-जैसे कुत्ता होता है वैसा ही तो है यह। कई बार आप का भोग खाते पिटा यह ! और इसे आपने स्वर्ग में रख दिया।"

और भगवान ने एक बड़ी बही देख कर कहा कि इसमें

लिखा है कि तुमने आत्म-हत्या की ! मैंने कहा कि नहीं महाराज मैं भूख से मरा, मैंने आत्म-हत्या नहीं की । पर वे बोले "नहीं तुम झूठ बोलते हो । तुम्हारे देश के अन्न मंत्री ने लिखा है कि तुमने आत्म-हत्या की । तुम्हारे शरीर के पोस्ट मार्टम से यह बात सिद्ध हुई है" और भगवान आसमान से गिरते गिरते बचे, जब मैंने कहा कि महाराज यह रिपोर्ट झूठ है । मेरा पोस्ट मार्टम हुआ ही नहीं । अरे मैं तो जला दिया गया था । इसके दस दिन बात संसद में प्रश्नोत्तर हुए । तो क्या मेरी राख का पोस्ट मार्टम हुआ ? और तब मैंने उन्हें पूरा हाल सुनाया ।

लो तुम भी सुनो । तुम नहीं जानते मैं कहाँ जिया, कहाँ रहा, कहाँ मरा ? दुनिया इतनी बड़ी है कि कोई किसी का हिसाब नहीं रखता ।

और तुम क्या जानो कि जब मेरी साँस चलती थी तब भी मैं जिन्दा था । मैं इस अर्थ में जीवित था कि मैं रोज मृत्यु को टालता जाता था । वास्तव में तो मैं जन्म के पश्चात् एक क्षण ही जीवित रहा और दूसरे क्षण से मेरी मौत शुरू हो गई । तो बाजार की उस अट्टालिका को तो जानते हो । उसी के पीछे एक ओर से पाखाना साफ करने का दरवाजा है और दूसरी ओर दीवार के सहारे मेरी छपरी । अट्टालिका का मालिक मेरी छपरी तोड़कर वहां भी अपना पाखाना बनाना चाहता था । अगर मैं मर न जाता तो गरीब आदमी की झोपड़ी पर अमीर के पाखाने की विजय भीइन आँखों से देखता । अब तो तुम मेरा स्थान जान गये होगे-आदमी से अधिक तो तुम अट्टालिका को पहचानते हो । अट्टालिका के सहारे आदमी को जानना तो तुम्हें खूब आता है ।

बस यहीं झोपड़ी में रहा मैं । मेरे आसपास अन्न ही अन्न था । दीवाल के उस पार से जो चूहे आते वे दिन पर दिन मोटे होते जाते और दो रोज तक तो वे इसलिये नहीं आये कि निकलने का थोड़ा मार्ग बनाते रहे । पर मैं फिर भी भूखा रहा । बेकार था । पैसा एक नहीं था । अनाज दस रुपये सेर था । इससे तो मेरे लिये मौत सस्ती थी ।

आखिर मेरी मौत भी आई । जिस दिन आई उस दिन अट्टालिका के उस पार वाले रईस के लड़के की शादी थी । बड़ा अमीर था । सारा गाँव जानता था कि उसके पास हजारों बोरे अन्न था, पर कोई कुछ नहीं कहता था । पुलिस उसकी रक्षा करती थी । और उस दिन मेरी मौत धीरे धीरे काला पंजा बढ़ाती आती थी । मेरे पेट में ऐंठ आई; आँखें धुंधली पड़ीं । देखा दीवाल के उस पार पकवानों की सुगन्ध आ रही थी । यही संतोष रहा कि पकवानों के बीच मेरी मौत हुई ।

मौत के जरा पहले मेरा प्यारा कुत्ता बरबस दीवाल के उस पार घुस गया और पकवान खा गया । मालिक के नौकर ने उसे खींचकर एक डंडा मारा और वह कराहता हुआ मेरे पास आकर पड़ गया । चीखता रहा, चीखता रहा । मेरे प्राण निकल रहे थे । पर मुझे इस जानवर के सामनें चीखने में लज्जा आई इधर मेरे पेट में आखिरी ऐंठ आई और पंछी ने पिंजरा खाली किया उधर मेरे कुत्ते की भी दम टूटी । डंडे की चोट बड़े मर्म की थी । दोनों मरे; एक साथ मरे—फर्क इतना कि वह खाकर मरा और मैं बिना खाये ।

उधर बरात उठी, इधर चाण्डालों ने टीन गाड़ी में मुझे पटक कर घसीटा । सड़क के उस ओर से अमीर के लड़के की बरात जा रही थी, इस ओर से मेरी यह सरकारी अर्थी । सरकार ने भोजन का

प्रबंध नहीं किया था, पर मरनेवालों की लाशों को दफनाने का इंतजाम बहुत अच्छा किया था। उधर बरात के पीछे मंगलगान हो रहा था। मेरी लाश के पीछे एक भी रोनेवाला नहीं था। ऐसी सफाई से मरा कि किसी को कष्ट न हुआ, कुत्ते तक को नहीं। बरात पहुँच गई थी। गोले छूट रहे थे; और इधर अपर्याप्त लकड़ी में मेरी हड्डियां चटचटा रहीं थीं।

ऐसा मरा। और मरकर यहाँ जब आया तो मुझे कुछ दुख नहीं हुआ जब मैं नर्क में भेज दिया गया। मैंने प्रतिवाद करना सीखा नहीं था और यह स्थान भी उससे ज्यादा खराब नहीं था जहां मैं जिंदगी भर रह चुका था।

कहानी भगवान ने सुनी। बोले तुम भूख से मरे न ? फिर भी तुम नर्क में रहोगे; और यह कुत्ता; वह स्वर्ग में रहेगा। और यह बगल का कमरा उस झूठे मंत्री के लिये खाली होगा।

मैंने पैर पकड़ लिये। बोला भगवान यह कैसा न्याय है।

वे बोले, "मूर्ख कायर; तू कुत्ते से भी हीन है! बेचारा कुत्ता दीवाल को लांघकर घुस गया और खाना खा आया। और तू आदमी कहलाने वाला! 'हाय; हाय;' कह कर मर गया। तू दीवाल लांघ नहीं सकता था ? दीवाल तोड़ नहीं सकता था ?

"लेकिन भगवन्!" मैंने कहा, "वह दीवाल कैसे तोड़ता ? कैसे लांघता ? यह पाप न होता ?"

"पाप पुण्य के झमेले में पड़ने वाले कायर! वह दीवाल क्या मेरी बनाई हुई है ? तमाम दीवालें आदमियों ने खड़ी की हैं ? और तू उन्हें तोड़ने में पाप पुण्य देखता है ? मूर्ख ? तेरा कुत्ता तुझसे ज्यादा

समझदार है। वह घुस गया, खाया, और डंडे की मार से मरकर यहाँ आ गया। उसमें मनुष्यत्व है, तुझ में पशुत्व ! मैंने तुम्हें बुद्धि दी है; हाथ-पैर दिये हैं, कार्य-शक्ति दी है—और तू अकर्मण्य; बुज़दिल कीड़े सा मर गया ! मनुष्यों ने मुझे बहुत निराश किया, अब मैं कुत्ते ही कुत्ते निर्माण करने का विचार कर रहा हूँ। तुम जैसे अकर्मण्य, कायर, भीरु, मूर्ख को नर्क नहीं तो क्या इंद्रासन मिलेगा ?

मैं नर्क में ढकेल दिया गया। और मैं इस कोने से तुमसे कह रहा हूँ कि हे मेरे देशवासियो ! मेरी जैसी मौत न मरना, मेरे कुत्ते की तरह मरना।

# लक्ष्य ?

मैं अपनी राह चला जा रहा था। राह में अनेक राही मिले, पर एक पथ पर चलते हुए भी, वे दाहिने किनारे से चलते तो मैं बायें से। साथ न चलकर भी ऐसे अनेक साथी कहलाये--फिर कोई इस ओर मुड़ गया, कोई उस ओर।

मैं अकेला, अपनी धुन में मस्त, आत्मा में अभिमान समेटे, चला जा रहा था। काफिले के साथ तो दुर्बल और अपाहिज चला करते हैं। समर्थ अकेले ही चलते हैं; और मैं अकेला ही चल रहा था।

सहसा एक पथिक कहीं से आकर उस राह पर चलने लगा। वह बायें किनारे से चलने लगा तो मैं दाहिने पर आ गया। और इस प्रकार चलते रहे- चलते रहे- बिना कुछ बोले। कभी वह मेरी ओर देख लेता, कभी मैं उसकी ओर देख लेता।

वह बोला, "आप बहुत थक गये हैं। स्वेद-बिन्दु आपके कपाल पर झलक रहे हैं। लाइये मैं पोंछदूं।"

मुझे लगा कि मेरी शक्ति का उपहास हो रहा है। मैंने उसकी दृष्टि बचाकर श्रम-बिन्दु पोंछ डाले और बोला, "मुझमें अपार सहन-शक्ति है। मैं कभी थकता नहीं हूँ।"

उसके मुख पर हल्की सी मुस्कान क्षण भर थिरक गई।

थोड़ा मार्ग और कटा। वह बोला, "आप लँगड़ाकर चल रहे हैं। आपको शूल चुभ गये हैं। बैठिये मैं निकाल दूं।" और मैंने कहा, "नहीं मुझे एक भी शूल नहीं गड़ा। इस पथ पर शूल हैं ही नहीं। वे मूर्ख हैं जो कहते हैं कि इस पथ पर शूल भी हैं।"

उसके मुख पर फिर मुस्कान की एक लकीर फिर गई। थोड़ा मार्ग और कटा। उसने पूछा, "आप अकेले ही चले हैं?"

मैंने गर्व से उत्तर दिया, "निपट अकेला। संगी-साथी की क्या आवश्यकता है? और आप?"

वह बोला, "मैं इस आशा से निकला हूँ कि संगी राह में ही मिल जायगा।"

मैंने कहा, "आपको क्या अकेले चलने में भय लगता है? क्या आपको राह नहीं मालूम?"

उसने उत्तर दिया, "नहीं भय तो नहीं लगता। राह भी मुझे ठीक मालूम है। पर संगी-साथी होने पर राह मजे में कट जाती है। एक दूसरे से हँसते बोलते; सुख-दुख की कहते- सुनते यात्रा का श्रम बँट जाता है।"

मैंने कहा, "पर यह भी तो हो सकता है कि सहयात्री बात चीत में ही उलझ जावें और राह भूल जावें। अथवा एक दूसरे की चिन्ता में गति मंद हो जाय। जो आधार की आवश्यकता अनुभव करता है, उसे यात्रा पर निकलना ही नहीं चाहिये।"

मैंने सोचा, इससे वार्तालाप में व्यर्थ समय नष्ट हुआ। अब इसे छोड़ूं और आगे बढ़ जाऊँ। मैंने गति तीव्र की। सोचा—यह निर्बल, आधार का भिखारी पीछे रह जायगा।

परंतु मेरी गति के साथ उसकी गति भी बढ़ी। वह तो मुझसे भी तेज़ चलता था। और मुझे लगा कि वही अपनी गति धीमी करके मुझे साथ लिये जा रहा है।

एक बार फिर उसके मुख पर मुस्कान आ गई।

दोराहा आया।

उसने पूछा, "आप अमुक स्थान जा रहे हैं न ? दाहिने रास्ते से चलिये।"

मैं भी अमुक स्थान ही जा रहा था। पर मैंने सोचा कि अब तो यह मेरा पथ-प्रदर्शक भी बन गया। मुझे यह कुछ अच्छा नहीं लगा। सोचा इसे अब छोड़ना चाहिये। मैं तो अकेले ही तीव्र गति से चलने का संकल्प लेकर निकला था। पर इसके साथ तो गति में बाधा आ गई। फिर भी ऐसा लगता है, मानो वही मुझे बड़ी कृपा करके साथ लिये जा रहा है।

मैं झूठ बोला, "मैं 'अमुक' नहीं, 'तमुक' स्थान जा रहा हूँ। अच्छा नमस्ते।"

मैं वाम पथ से चलने लगा। सोचा कुछ काल उपरांत जब वह आगे निकल जायगा तब लौटकर 'अमुक' स्थान चला जाऊँगा।

मैं अपने इस रास्ते पर चलने लगा, जिस पर चलना, नहीं चलने के बराबर था। जो वहाँ ले जाता था, जहाँ मुझे नहीं जाना था। जो ग़लत था, पर जिसे मैंने स्वयं स्वीकार किया था।

मैं बड़ी दूर तक चलता रहा। फिर सोचा, अब वह बहुत आगे निकल गया होगा। मैं लौटा। दो राहे की ओर बढ़ा।

चलते चलते दोराहा भी आ गया।

और देखा कि एक वृक्ष की छाँह में वह बैठा है।

मुस्कुराकर बोला, "आइये। मैं जानता था आप लौटकर आवेंगे। मैं तभी से वृक्ष की छाँह में बैठा आपकी राह देख रहा हूँ। चलिए चलें।"

# सुलह

बड़ी बहू और छोटी बहू में मनमुटाव का बुनियादी कारण यह था कि छोटी बहू के 'कड़ोरे' में चार लड़ें थीं, और बड़ी बहू के 'कड़ोरे' में केवल तीन। और छोटी का कर्णफूल राख से और नीबू के अचार से धोने पर बड़ी बहू के कर्णफूल से अधिक चमकने लगता था। और हाल में ही दोनों बहुओं में मनोमलिन्य पैदा होने का कारण यह था कि छोटी बहू जब मायके से लौटकर आई तो नई 'डिजेन' की पायलें ले आई थी, जिनको पहिनकर छोटी बहू ज़रा पाँव पटक कर चलती थी और साड़ी भी कुछ ऊँची ही पहिनने लगी थी।

एक दिन बड़ी बहू अपनी सहेली के यहाँ बैठने जा रही थी तब उसने छोटी बहू से पायलें माँगी —घंटे भर के लिये। पर, संयोग की बात कि जिस समय बड़ी बहू ने पायल माँगी उसी क्षण छोटी बहू की पायल का पेंच न जाने कहाँ खो गया ; यद्यपि उस समय छोटी बहू पायल पहने ही थी। और यह भी संयोग की बात ही कही जायगी कि शाम को जब छोटी बहू अपनी सहेली के घर जाने लगी तब अचानक वह पेंच उसी पायल में लगा हुआ मिल गया।

बड़ी बहू कुछ समझती न हो —ऐसी बात न थी। आखिर बड़ी जो थी ? दाहिने हाथ से शून्य में रेखा खींचकर, मुंह को यथासंभव विकृत करके बड़ी बहू ने छोटी बहू को लक्ष्य बनाकर जमना कहारिन

के माध्यम से वाक्य-बाण छोड़ा, चूहे को चिन्धी मिल गई तो बजाज ही बन गया ! दुनिया में अभी तक एक ही जोड़ी पायलें तो बनी हैं-- महारानी जी के लिये ! पाँव पटक पटक कर धरती खोद डाली! "

छोटी बहू ने 'चेलेंज' स्वीकार किया। बड़ी बहू के 'पांच जन्य' के नाद का उत्तर उसने भी दिया --"पहिनते हैं तो किसी की छाती क्यों जलती है ? हम तो चलेंगे, और ज़ोर से चलेंगे ? जिनको बुरा लगता हो, आँख कान बन्द करले।" ऐसा कह छोटी बहू ने 'डाइरेक्ट-एक्शन' (सीधी कार्य यसी) ही प्रारम्भ करदी -याने एक झमाके के साथ पैरों को जमीन पर पटका।

बड़ी बहू की आँखें लाल हो गईं। चिल्लाई, "आग लगे तेरे पाँवों में। पाँव पटक-पटककर असगुन करके अपने लड़के को तो खा गयी। अब मेरे दो हैं, सो उन्हीं की जान के पीछे पड़ी है।"

छोटी बहू के बहुत कोमल स्थान पर चोट की गई थी। साल भर पहले उसका दो साल का लड़का मर गया था, यद्यपि उस समय ये पायलें भी नहीं आयीं थीं। छोटी बहू इस चोट से तिलमिला उठी। बच्चे की याद ने क्रोध से मिलकर उसका बुरा हाल कर दिया। वह रो पडी और बोली --"अच्छा है हँस लो ? ऐसे मुंह में आग लगे। तुम्हारे भी अमर होकर थोड़े ही आये हैं।"

बड़ी बहू पाँचवी हिन्दी तक पढ़ी थी, और जानती थी कि मनुष्य अमर नहीं होता। पर, वह यही सोचना चहती थी, विश्वास भी करती थी कि उसके बच्चे अमर रहें। वह भभक उठी — 'सांझको बिरिया ऐसी बोली निकाली तो जीभ खींच लूंगी। मरे तेरे; और मरे तू निगोड़ी ?"

छोटी बहू ने भी इसका प्रत्युत्तर दिया। और थोड़े वाग्युद्ध के बाद यह नौबत आई कि बड़ी बहू ने कहा "आज से हमसे बोली, तो गौ की कसम है।" छोटी ने भी गौमाता की शरण ली –"तुम भी बोलीं, तो काली गौ की कसम है।"

उस दिन से छोटी बहू और बड़ी बहू में वार्तालाप बन्द हो गया। मुहल्ले की स्त्रियों में दूसरे दिन से दो 'पावर ब्लाक' (दल) बन गये। सैनिक दृष्टि से छोटी कुछ सबल पड़ती थी क्योंकि 'छोटे' कचहरी में मुन्शी थे और इस गाँव के मामले मुकदमे इन्हीं के हाथ से गुजरते थे। पर बड़े के पास धन का बल था –– और उनकी अपनी योजना के अनुसार अड़ोस-पड़ोस के लोग उनके ऋणी थे। ऐसे दल जब बन गये तो फिर बड़ा वाला दल बड़ी के आँगन में बैठकर छोटी के घर की तरफ हाथ मटका-मटका कर आपस में कान के पास मुँह लगा-कर कहती – "अरी छोटी ऐसी है कि ....." यही कार्यक्रम छोटी की ओर से अपने आंगन में आयोजित किया जाता। दोनों भाइयों के दो चूल्हे थे और बीच में बाँस की वागुड़ भी थी, पर दोनों में फिर भी काफी प्रेम था।

छोटी बहू और बड़ी बहू का मनमुटाव बढ़ता ही गया। बोल-चाल तो बन्द हो गया था; अब एक दूसरी को दिख जाती तो थाली या लोटा या बछिया, या गाय किसी के ब्याज से गाली दे देती। छोटे व बड़े काफी समझदार थे। दोनों ने पत्नियों को काफी समझाया, मगर विश्व के आरम्भ से अभी तक स्त्री ने पुरुष की बात मानी होती तो ये भी मान लेतीं।

पाँच छः महीने के बाद एक दिन बड़ी के बड़े भाई

रामचरनलाल आये। रामचरनलाल खँडवा में थानेदार थे। बड़े योग्य आदमी थे। कॉंस्टेबिल से बढ़कर आज थानेदार हो गये थे। मैट्रिक पास मुंशी से अँग्रेजी की डाक पढ़वाकर उसका हिन्दी में सरलार्थ करवाते थे फिर अपना जबाब हिन्दी में कहकर मुंशी से अंग्रेजी करवाकर नीचे बड़ी सावधानी से आर० सी० लाल ( R.C. Lall ) लिखते थे।

रामचरनलाल की तनखाह तो १००) रुपये थी पर भगवान की दया से और अपनी अक्ल से इस नौकरी में उन्हें खूब बरक्कत थी--ऊपरी 'आमदनी' काफी थी। घर में थानेदारिन सोने से लदी थी।

रामचरनलाल बहिन के यहाँ आये तो खाने के बाद बोले---"तेरी भाभी ने तेरे लिए पायलें भेजी हैं। दो जोड़ी बनवायी थी, एक उसने रख लीं, एक तेरे लिए भेजी है। ले देख पहिनकर।"

बड़ी की आँखें चमक उठीं--कैसी चमक रही थी! पायलें बिलकुल नयी 'फैशन' की थीं। छोटी की पायलें तो इनके सामनें कुछ भी नहीं। "कैसे कटाव? कैसे फूल? कैसा अच्छा खुदाव? बड़ी अच्छी बनक है भैय्या?" बडी नें पायलें पाँव में पहन ली थी अब। पैर पटककर देखा कि कहीं छोटी से कम झनकार तो नहीं होती। पर नहीं छोटी की पायलों से दुगनी झनकार होती है।

दूसरे दिन बड़ी की पायलों का समाचार उनके, दल ने सर्वत्र फैला दिया, मानो बड़ी ने 'एटम बम' खोज लिया हो। जिसने देखी, पायल की तारीफ की। सबेरे से शाम तक अड़ोस-पड़ोस की बहुएँ सासें, बिटियें सब आती रहीं और प्रशंसा करती रहीं।

पर बड़ी को संतोष नहीं था। "ये सब स्त्रियाँ क्या जानें गहनें की परख! छोटी कैसी भी हो; गहनें की परख उसी को है।" बड़ी

बहुत विकल थी। रातभर उसे नींद न आई ! सोचती रही, आखिर छोटी को कैसे दिखाऊं ? एक बार देख लेती तो आँखें खुली रह जाती ! ऐसी पायलें कभी न देखी होंगी। बड़ी ठसक थी इसे, अब यें पायलें देख लेगी तो 'जीजी जीजी' कहकर पीछे घूमेगी पर कैसे। बतलाया जाय ? "

दिन भर बड़ी लगभग घुटनों तक ऊँची साड़ी पहिने रही और 'धम्म धम्म' पैर पटक कर चलती रही। सोचती थी, एकाध बार तो छोटी इस तरफ देख लेती पर छोटी ने निगाह तक न डाली।

दिन भर बीत गया। बड़ी को पड़ोसिनों की तारीफ काटने को दौड़ती थी। एक दो को उसनें फटकार भी दिया था। पायलें नहीं थी तब अधिक सुखी थी; अब उसकी व्याकुलता का अंत न था।

ऐसी पायलों को, क्या चाटूं ? जिसको देखना था वह तो देख नहीं रही है। क्या करूँ ? क्या उससे बोलूं ? अरे, अरे, यह तो हार हो जायगी,। कितनी हँसी होगी मेरी ! पर वह देखेगी कैसे ! बड़ी शाम को आँगन तक गई। पुकारने ही वाली थी कि याद आई, गऊ की कसम चढ़ी है। उलटे पाँव लौट आयी।

रात को दस बज गये। बड़ी बिस्तर पर पड़ी-पड़ी करवटें बदल बदल रही थी। वे पायलें उसके पाँवों को काट रही थी। सोचती थी एकबार अगर देख पाती !

वह उठी। छोटी बहू के कमरे की ओर चली। फिर लौटी। सोचा किसी बहाने से जाना चाहिये। भाई के लिये बनाई हुई बरफी आलमारी में रखी थी। एक तश्तरी में बरफी रखी। सोचने लगी – 'छोटी लड़की कमला को बरफी देने के बहाने से पुकारना चाहिये।'

उसका मन फिर पीछे हटा। "छोटी क्या कहेगी मन में ! और फिर गऊ माता की कसम ?"

वह बड़ी देर तक तश्तरी लिये खड़ी रही। आखिर वह छोटी के कमरे की ओर चली। "विजय पूरी करने के लिये पहले हार खानी पड़ेगी। पर, वह काली गऊ ! अरे ऐसी कसमें तो हजार खाते हैं।" उसने मन में कहा।

अपने मन की निर्बलता से डर कर झपटकर छोटी के कमरे के सामने पहुँच गई। पुकारा –"छोटी बहू !" आवाज काँप रही थी।

छोटी ने साँकल खोली। सामने बड़ी को तश्तरी हाथ में लिये खड़ी देखकर आवाक् रह गई। बड़ी ने स्वयं कहा –"बर्फी बनाई थी। कमला के वास्ते लाई हूँ। सो गई क्या ?"

शत्रु सामने सन्धि का प्रस्ताव ही नहीं बल्कि भेंट भी लिये खड़ा था। क्षण भर को छोटी के मन में आया कि शत्रु को एक ठोकर और लगाये और विजय पूरी करले। पर वह इतनी कठोर नहीं थी। –बोली "आओ जीजी। भीतर बैठो।" विजय का गर्व धीरे-धीरे हृदय में गला जा रहा था।

बड़ी भीतर बिछौने पर बैठ गई। दोनों कुछ देर तक आवाक् बैठी रहीं। बड़ी राह देख रही थी कि छोटी कब पायलों की पूछे ! वह कितनी बार पाँवों को पटक चुकी थी; पाँवों को कई बार बिछौने पर आँखों के सामने ही रख चुकी थी। पर यह 'अत्याचारिणी' छोटी बहू तो पूछती ही नहीं थी। बड़ी हलचल मची थी। बड़ी व्याकुल थी वह !

सहसा उसने 'सी सी' की आवाज करके पैर झटका और बोली, "बड़ा दर्द दे रही हैं ये।"

"क्या ?" आखिर छोटी ने पूछा। "ये पायलें। नयी हैं न ! परसों भैया लाये।" बड़ी ने इतने थोड़े प्रोत्साहन पर ही सारा हाल सुना डाला और पेंच खोलकर पायलें छोटी के हाथ में दे दीं। पूछा, "कैसी हैं?"

छोटी ने देखकर कहा –"बहुत अच्छी हैं।" "सच ?" बड़ी ने पूछा। "हां हां, ऐसी अच्छी पायलें तो देखी नहीं।" बड़ी ने सोचा मेरी जीत हो गयी। पर उसकी विजय का गर्व भी गलने लगा। दोनों आधी रात तक बैठी रहीं। चलते समय दोनों ने एक दूसरी की काली गऊ की कसम उतार ली। दोनों में सुलह हो गई।

# जीवन की कहानी

'कुहा···कुहा···कुहा···

'ऊँ ऊँ–ऊँ ऊं–ऊँ ऊँ'

'मामा–बाबा–पापा–दादा'

'अम्मा ! लोती थायेंदे'

'छोटा 'अ', बड़ा 'आ', छोटी 'इ' बड़ी 'ई',

'दो एकम दो–दो दूनी चार'

'सी–ए–टी–कैट, कैट याने बिल्ली, आर-ए-टी-रैट रैट याने चूहा'

'अरे यार, अंग्रेजी तो याद ही नहीं होती'

'ओ बाबूजी ! अरे बाबू ! अब मत मारो; कभी ऐसा नहीं करेंगे ।'

'अरे बापरे, कल तो गणित का परचा !'

'हां यार थर्ड क्लास में पास हो ही गये ।'

'यार 'जवाब' में काननबाला का कमाल का काम है ।'

'—चले नहीं जाना हो'

'बड़े भोले भाले हैं, दिल लेने वाले'

'कोई दिल में समाया जा रहा है।'

'अम्मा, हमने कितने बार कह दिया कि हमको शादी नहीं करना।'

'स्वाहा! स्वाहा! स्वाहा!'

'अरे यार पिता जी नहीं मानें इसलिये शादी करना पड़ी!'

'क्या बताऊँ? तुम्हारे बिना दफ्तर में मन ही नहीं लगता।'

'तुम्हारे हाथ के समोसे कितने अच्छे लगते हैं।'

'देखो मैं तुम्हारे लिये ये साड़ी लाया हूँ।'

'बेटा! बेटा! लल्ला! लल्ला!'

'अरी सुनती हो! ये तुम्हारे साहबजादे ने हमारे कपड़ों पर पेशाब कर दी।'

'जरा इसके कपड़े तो बदल दिया करो।'

'कह तो दिया कि तनखाह पर एरिंग ला दूँगा।'

'क्यों रे बदमाश! स्कूल क्यों नहीं गया? तुम्हीं ने बिगाड़ रखा है इसे लाड़ में।'

'डाक्टर साहब! रामू अच्छा तो हो जायगा न? बड़ी मेहरबानी है।'

'साहब बच्चा बीमार था इसलिये दफ्तर आने में देर हो गई। माफ कर दीजिये।'

'अरे रामू की माँ! सुनती हो इस शैतान की बातें? कहता है 'छोटी सी दुलहन लेंगे।'

'अरे गधे चार और पाँच आठ नहीं, नौ होते हैं।'

'रामू की मां ! ए रामू की मां ! अरी सुनती हो ? मैंने कहा न हो तो अगले महिने से दूध कम कर दो ! खर्च बहुत है ।'

'घर में सयानी लड़की बैठी है । मेरा तो खाया खाना हजम नहीं होता ।'

'नहीं नहीं मिसर जी पांच हजार तो मैं नहीं दे सकूंगा । 'आप ही की लड़की है । दो हजार से पाँव पूज दूँगा । मुझे उबार लीजिये ।'

'हां भैया आपके आशीर्वाद से बिटिया को घर अच्छा मिल गया ।'

'अरी रामू की मां ? वे बिजनौर वाले सुकुल आये हैं अपने रामू के बाबत ।'

'नहीं नहीं सुकुल जी, पाँच हजार से कम नहीं लूँगा । मैं तो भाई साफ कहता हूँ ।'

'हाँ भैया आपकी दया से बहू तो हीरा सी मिली है ।'

'अरे रामू ! ये रातदिन की किचकिच तो अच्छी नहीं लगती। तू न हो तो अपनी बहू को लेकर अलग रहने लग ।'

'बेटा ! बेटा ! अरे गधे अपने बाबा की मूछे पकड़ता है ।'

'हाँ भैया अब पेन्शन ले ली है। आपकी दया से लड़का कमाता है ।'

'रघुपति राघव राजाराम···'

'आगे चले बहुरि रघुराई···'

'भूत पिशाच निकट नहिं आवै, महावीर जब नाम सुनावै ।

'बेटा जरा 'कल्याण' ले आना टेबिल से'

'राम्, अब की छुट्टी में तो हमें तू जगन्नाथ जी करा ला ।'

'खाँ खाँ खाँ खाँ–खाँ खाँ खाँ खाँ'

'डाक्टर साहब भूख नहीं लगती, और खाते हैं तो हजम नहीं होता'

'अरे बाप रे ! हाँ बस–बस–बस–बस, यहीं डाक्टर साहब ! यहीं दर्द है ! मरा जाता हूँ'

'क्या करूँ भैया जरा कम सझता है ।'

'अरे अब तो दिन पूरे करना है–तिवारी जी !'

'तुम आज कल के लड़के हमारी बात काहे को मानोगे ! हमारा क्या है ? आज मरे कल दूसरा दिन ।'

'हरे राम ! हरे राम ! अब तो उठालो हमें । भगवान !'

'अब तो उठ कर बैठा भी नहीं जाता भैया !'

'अरे राम् ! सतीश को तार दे दे बेटा । उसको भी देख लेता ।'

'अरे राम् की माँ ! तुम जाओ सोओ । तुम बीमार न पड़ जाना ।'

'अरे राम्, बहू ! तुम लोग क्यों परेशान होते हो ? अब मुझे दवा नहीं चाहिये । जाओ सो रहो बेटा !'

'मुन्नी, रामायण जी पढ़कर तो सुना बेटी ।'

"बेटा ! राम् की माँ ! बहू ! सतीश ! लल्ला ! आह ! अब मैं चला ! राम् ! अपनी माँ का ख्याल रखना ।"

राम नाम सत्य है !

---

# भूख का स्वर

दुनिया ने बड़ी तपस्या से सिद्ध किया हुआ यह महाकल्याण मंत्र मेरे कानों में फूँका, 'बेटा, देखो अनदेखी, और सुनो–अनसुनी करना सीखो ! और हो सके तो जिन दाँतों को दिखाते हो उनसे खाओ मत ! और बन सके तो आँख मस्तिष्क और हृदय को बाँधने वाला जो तार है, उसे चतुराई से काट डालो। बस फिर सुख ही सुख है।"

महामंत्र है। सिद्ध है। लाहौर के १।।) के महात्मा वाले वशीकरण मंत्र से कोई कामिनी फँसते मैंने नहीं देखी और अमृतसर वाले महात्मा के १।) वाले मंत्र से बाँझ स्त्रियों को कानी लड़की होते हुये भी नहीं देखी। लेकिन इस महामंत्र के अपनाने वालों को हँसते, फुदकते, उछलते देखा है।

नेक सलाह है। लेकिन असमर्थता भी कोई चीज़ है। कभी कभी कोई बात दिख जाती है और हृदय को मथ डालती है और कभी कभी छिपाते छिपाते भी ये भीतर के दाँत दिख जाते हैं, और तब विकल होना हूँ कि अधूरी विद्या कैसी संकट बन जाती है। और तब दुनिया की सीख फिर कान में आती है, "भीतर के दाँतो की झलक अगर दिख ही गई; कमजोरी अगर प्रगट हो ही गई है, तो उस पर आत्मस्वीकृति के सुनहले रंग की कूची फेर।" यह भी

ऐसी ही एक बात, जो कभी हो गई थी हो और हो जाने के बाद न लिखना क्या अपने वश की बात है ?

एक दिन सूरज ऊगने के पहिले ही मेरी नींद खुल गई। वैसे मेरे विषय में लोगों की यह धारणा है कि अगर मेरे ऊपर किसी ने विजय पाई है तो वह नींद ने। और इन्ही लोगों का ऐसा भी ख्याल है कि कुंभकरर्ण को ६ महीने की लम्बी निद्रा देने में विधाता ने विश्व का जो कल्याण देखा था वही कल्याण मुझे आलसी बनाने में देखा गया है। मैं एकाएक उठ पड़ा क्योंकि बगल वाले मकान से २-३ बच्चों के रोने की आवाज़ आ रही थी। रोने की आवाज़ों में बड़ी विभिन्नताएं होती हैं। इन बच्चों के सम्मिलित रोने का शब्द भी सामान्य से कुछ भिन्न था। एक बार मुहल्ले में कुत्ते के ३ पिल्ले न जाने कहाँ से आ गये थे। बाद में मालूम हुआ था कि उनकी माँ किसी 'लोकवाहक' से दबकर परलोक चली गई थी। छोटे छोटे मासूम पिल्ले थे। दिन भर से उन्हें खाने को नहीं मिला था और वे भूख में तड़पते हुए एक दूसरे से चिपटे पड़े थे- 'कुकुर-कुकुर' के साथ 'टीं-टीं' सरीखी आवाज़ मिलाकर रो रहे थे।

यह आवाज़ जो मैं सबेरे सुन रहा था, उन भूखे तड़पते पिल्लों सरीखी थी। भूख का एक स्वर होता है, चाहे वह कुत्ते की भूख हो, चाहे आदमी की भूख हो। भूख का स्वर पहिचानने में आप कभी गलती नहीं कर सकते।

मैंने पत्नी को जगाया। वह अपने नन्हें बेटे को हृदय से चिपका कर सोई थी, दूसरे बच्चे भी आसपास आनन्द की नींद में निमग्न थे।

मैंने कहा "सुनती हो ? रघुनाथ के यहां बच्चे रो रहे हैं, २–३ घंटों से। ज़रा देखो तो। बच्चों की माँ से पूछो।"

वह उठी और पड़ोसिन को पुकारा। थोड़ी देर बात करके लौटी और बोली, "तीनों बच्चे भूख से तड़प रहे हैं। २४ घंटों से कुछ खाने को नहीं है घर में। बेचारे की नौकरी छूट गई है न, एक महिने से !"

इसी समय रघुनाथ आया। आते ही उसकी आँखों से आँसू झरने लगे। मैंने स्त्रियों की आँखों में आँसू देखे है–आपने भी देखे होंगे। स्त्री वैसे ही करुणा की सजीव प्रतिमा है। और अबला की विवशता और करुणा जब आँसू बन कर झरने लगती है तब हृदय को हिला देती है, यह सच है। पर इसे मैंने कभी असामान्य नहीं माना। परन्तु पुरुष का रोना ! पुरुषों की आँखो में आँसू ? कहीं हनार गुनी विवशता। करुणा रहती है इनमें। ऐसा लगता है कि पौरुष टूक–टूक होकर, पिघल–पिघल कर बह रहा है। विश्व की शक्ति विधवा होकर मानों विलाप कर रही है।

पुरुष रोता नहीं है। जब वह रोता है, रोम रोम से रोता है। उसकी व्यथा पत्थर में दरार कर सकती है।

रघुनाथ का रोना बड़ा भयोत्पादक था। उसने मेरे हृदय को गीला तो किया ही, साथ ही मुझ में भय भर दिया। पुरुष का रोना कुछ वैसा ही भय व आशंका उत्पन्न करता है जैसा सबेरे–सबेरे द्वार पर कुत्ते का रोना।

रघुनाथ ने हृदय खोल कर मेरे सामने रख दिया। महिने भर से अपने दर्द को ढाँके था, पर आज उसके आँसू निकल कर बतला

रहे थे कि इसके पास गोपनीय कुछ नहीं रहा। उसने बतलाया कि एक महिना हो गया, उसकी नौकरी को छूटे। ६०) मिलते थे उसे। किसी तरह तीन बच्चों का और स्त्री का पेट भरता था। पर एक महिने से घर में न बर्तन बचा था, न अन्न का दाना। नौकरी ढूंढते ढूंढते पाँव में छाले पड़गये थे, पर कोई ठिकाना नहीं लगता था।

मैंने सब हाल सुना। नितांत हृदयहीन हूँ, ऐसा तो नहीं है। पर हम में से अधिकांश के लिये सहानुभूति भी एक कला बन गई है। भाषा के वैभव ने हमें क्षमता दी है कि हम चुनिन्दा शब्द उच्चरित करें। नाट्य-कला ने सुविधा दे दी है कि दर्द का भाव चेहरे पर बिछालें। इससे ज्यादा हम करते भी क्या हैं? सोचकर संतोष कर लेते हैं कि ज्यादा कर भी क्या सकते हैं!

स्त्री ने उन बच्चों के लिये रात की रोटी भिजवाई; इस गर्व के साथ मानों अपना सर्वस्व त्याग कर रही है, विश्व का पालन करने के लिये। उस समय अपने खुद के बच्चों के लिये वह गरम पराठे बना रही थी। ग्लानि से मेरा मन भर गया। कैसी क्षुद्रता है? हमारे घरों में बासी रोटी, कुत्ते की जूठी खीर, बिगड़ा हुआ चाँवल-सब भिखारी व अतिथि के लिये होता है। स्त्री की क्षुद्रता का जिक्र करके मैं संतोष पा रहा हूँ, पर मेरे नाम पर आप थूकें क्योंकि मैंने भी इसका विरोध न किया। मेरे अन्तर में न जाने कहाँ दुबकी बैठी नीचता ने कहा कि यह उचित ही है।

खैर, दोपहर को रघुनाथ ने यह तय किया कि वह अपनी स्त्री को बच्चों के साथ उसके मायके भेज दे। उन लोगों के पास कुछ खेती है; वहाँ बच्चे पल जायेंगे। उसकी नौकरी लगते ही वह उन्हें बुला लेगा।

वह गाँव लगभग २०–२५ मील दूर था। पास में ही रहने वाला एक गाड़ीवाला ५) में उन्हें वहाँ फेंक आने के लिये तैयार हो गया।

गाड़ी तैयार हो गई। स्त्री तीनों बच्चों को लेकर गाड़ी में बैठ गई। रघुनाथ खड़ा खड़ा रो रहा था; स्त्री भी रो रही थी। रघुनाथ का मन ग्लानि से भरा था। वह अपने आप को धिक्कार रहा था। आज वह अपने स्त्री बच्चों का पेट भी नहीं भर सकता, दूसरों के माथे ढकेल रहा है। अपने हृदय के टुकड़ों को इसलिये यहाँ से भगा रहा था कि वे भूख से मरने से बच जावें।

और स्त्री? उस बेचारी की लज्जा और विषाद का क्या अंत था? अपनी दरिद्रता को लेकर स्त्री कभी मायके नहीं जाना चाहती? अपने पति के घर की समृद्धि ही तो उसे मायके में सम्मान दिलाती है। दरिद्र पति की पत्नी तो मायके में भी तिरस्कार व अपमान ही पाती है। आज इस अवस्था में जाते समय उसका हृदय टुकड़े टुकड़े हो रहा था। उसकी आँखों से आँसुओं की झड़ी लगी थी। और इधर उसका यह पति जमीन में गड़ा सा, अपने भार से आप दबा हुआ, विवश खड़ा था?

गाड़ी चल दी। वह अभागिन बच्चों को गोद में सम्हाले हुए बैठी थी। जैसे कोई विहगी अपने बच्चों को पंखों में समेटे जलते हुये वृक्ष से भाग जाने का विवश संकल्प करके भी न भाग सकती हो!

× × ×

दो दिन हो गये। गाड़ीवान नहीं लौटा। तीसरे दिन

शाम को वह आया। खबर दी कि राह में खूब पानी गिरा। ठंड कड़ाके की पड़ रही थी। एक लड़के को यहीं से बुखार था। पानी और ठंड की मार से,घर पहुंचते ही उसके प्राण–पंछी पिंजड़ा खाली कर गये।

रघुनाथ ने सुना। बड़ी देर तक रोता रहा। उसकी नौकरी अभी भी नहीं लगी थी। इस समय जब उसकी स्त्री बेटे के मरण के दुख से तड़पती होगी, उसे लगा कि उसका दुख बँटाने के लिये उसे वहाँ होना चाहिये था। पर वह जाता भी कैसे ?

× × ×

रात को लगभग ८बजे मुहल्ले में बड़ा हल्ला हुआ। मैं बरामदे में आकर बाहर खड़ा हुआ तो सामने से रघुनाथ रोता चिल्लाता आ रहा था। सिर से रक्त बहकर कुरते पर गिर रहा था।

नज़दीक आया तो मैंने पूछा "क्यों ? क्या हुआ ? ये खून कैसे बह रहा है ?"

वह रोते हुए बोला, "गाड़ीवान ने मुझे लट्ठ से मारा।"

इतने में वह गाड़ीवाला भी आ गया। मैंने उससे पूछा, "क्यो रे तूने इसे क्यों मारा ?"

वह बोला, "बाबूजी यह मेरा किराया नहीं देता।

रघुनाथ बीच ही में बोला, "मेरे पास कौड़ी तो है नहीं। इससे कहा कोशिश कर रहा हूँ। मिलते ही पैसे चुका दूंगा। अभी तो मैं तीन दिन का भूखा हूँ। पेट में दाना नहीं पड़ा।" वह फिर रोने लगा।

मुझे गाड़ीवान पर गुस्सा आया। कैसा कठोर हृदय है ? तनिक भी इस गरीब पर दया नहीं।

मैंने क्रोध से कहा, "क्यों रे तुझे जरा भी सब्र नहीं ? उस बेचारे के पास इस वक्त क्या धरा है ? तुझे शर्म नहीं आई ? तूने उसका माथा फोड़ दिया।"

वह गाड़ीवान ज़रा आगे बढ़ा और एकाएक वह भी रो पड़ा। आँखों से आँसू गिरने लगे और वह हाथ जोड़कर बोला, "बाबू साहब, मैं भी आदमी हूँ। मैं तो कभी उससे नहीं माँगता। पर भगवान की सौगंध से कहता हूँ मैं भी तीन दिन से भूखा हूँ ? और मेरे वे दोनों बैल भी तीन दिन से भूखे हैं। इसलिये गुस्सा आ गया था।"

मेरा सिर चकराने लगा। सामने वह भी खड़ा रो रहा था, जो पीटा गया था ? वह भी रो रहा था, जिसने पीटा था।

किसी तीसरे ही प्रबल दुश्मन ने दोनों को मारा था।

यह रघुनाथ भी भूखा—तीन दिन से !

गाड़ीवान भी भूखा—तीन दिन से !

सब भूखे———

शिक्षित इंसान—भूखा !

अपढ़ गवाँर भी—भूखा !

और पशु भी—भूखा !

× × ×

सुबह उठा तो मालूम हुआ कि गाड़ीवान के उन दोनों बैलों

ने रात को रस्सी तुड़ाली और सेठ बदामीलाल के खेत की बाँटों की बाड़ी तोड़कर घुस गये। खूब पेट भरकर अनाज और घास चरा। चौराहे पर बादामीलाल दोनों बैलों को लिये खड़ा था। काँजीहौस की धमकी दे रहा था।

दोनों बैल बैठे थे। चेहरे से तृप्ति झलक रही थी। पेट खूब भरे थे। आनन्द से जुगाली कर रहे थे।

दोनों बैल बैठे हँस रहे थे!

ये दोनों मनुष्य खड़े खड़े रो रहे थे!

# सेवा का शौक

हर जमाने के अपने शौक होते हैं; अपनी 'फैशन' होती है। किसी वक्त सूट–बूट टाई पहिनने की 'फैशन' थी; अब खादी पहिनना 'फैशन' में शुमार हो गया है। किसी जमाने में भारत के रईसों को अंग्रेज अफसरों को पार्टियां देनेका शौक था; अब उन्हें समाज-सेवा का शौक हो गया है। किसी वक्त ग़रीबी पर हँसना फैशन था; अब ग़रीब के प्रति सहानुभूति प्रकट करना फैशन बन गया है। हमारे जमाने में रईसों के लिए समाज–सेवा एक नया शौक है। और इत्र-फुलेल से महकते, रंगबिरंगे कपड़ों में चमकते; शौकीन खुश-हाल लोग फुरसत निकालकर सिनेमा देख आते हैं, और समाज-सेवा कर लेते हैं। जैसे हीरे की अंगूठी इनकी अँगुली की शोभा बढ़ाती है, वैसे ही समाज-सेवा इनकी प्रतिष्ठा को जरा चमकदार बनाती है।

पंडित मातादीन भी शौकीन आदमी थे। उन्होंने परखा कि रईसों में समाज-सेवा का शौक पैदा हो गया है। तो शौकीन आदमी के नाते उन्हें पीछे रह जाना पसन्द न आया। और उन्होंने तय किया कि अब अपने गाँव की सेवा करनी चाहिये। पंडित जी की सात पीढ़ियाँ गाँव में ही जन्मी और गाँव में ही दफ़नाई गईं थी। पंडित जी का जन्म भी गाँव का ही था लेकिन इस मामले में मतभेद

था कि वे कहाँ दफनाये जायेंगे । वे नौ महीने शहर में और तीन महीने गाँव में रहते थे; और अगर कबीर की मिट्टी की तरह, पंडित जी की मिट्टी को लेकर शहर और गाँव वालों में खींच-तान शुरू हो गई तो शहर का हक़ ज्यादा वजनदार पड़ जायगा । पंडित जी उस गाँव के सात पीढ़ियों से मालिक थे और उस इलाके में उनका लाखों का लेन देन था । हजारों एकड़ ज़मीन थी। गाँव की कमाई को वे शहर में बैठकर खाते थे ।

तो पंडित मातादीन ने समाज-सेवा यों शुरू की कि अपने गाँव में पाठशाला खुलवा दी । अपने ही विशाल मकान के बरामदे को स्कूल बना दिया । एक दिन गाँव के लोगों की सभा करके उन्होंने समझाया कि तालीम बड़ी ज़रूरी चीज़ है; खुद उन्होंने गाँव को जल्दी ही शिक्षित बना लेने का फ़ैसला कर लिया है । वे दूसरे दिन शहर चले गये । वहाँ उन्होंने अपना नाम और काम अखबारों में छपाया, तब शिक्षक की तलाश करने लगे । समाज-सेवा किफ़ायत से करनी चाहिये-यह ज्ञान उन्हें अपने पुरखों से ही मिल चुका था। इसीलिए वे कम वेतन पर मास्टर ढूँढ रहे थे । उन्होंने स्लेटें; पेन्सिलें, किताबें खरीदीं । अब उन्हें एक आदमी की और जरूरत थी। लेकिन यह चीज़ तो बड़ी सस्ती और बहुतायत से मिलती है । कभी कभी पुस्तकें तो 'आउट आफ स्टाक' हो जाती हैं, लेकिन आदमी आप चाहें जितने खरीद लीजिए-फुटकर या 'होलसाट' ! हर चीज़ की कीमत बढ़ रही है लेकिन यही एक चीज़ है जिसकी कीमत घटती जाती है।

रामनाथ नाम १६-१७ साल का एक लड़का पंडित जी को मिल गया । रामनाथ के पिता की मृत्यु २ साल पहिले हो

चुकी थी। वह, विधवा मां और विवाह योग्य बहिन का भार माथे पर रखकर सफर पर चल पड़ाथा। मेट्रिक पास की ही थी कि पिता चल बसे। तबसे यहाँ वहाँ नौकरी करके, तीन पेट भर रहा था, और तीन तन ढाँक रहा था। पंडित जी, रामनाथ को २०) रु. माहवार पर मास्टर बनाकर गाँव ले आये। उससे कहा कि वह कुछ समय उनके ही घर रहे, फिर धीरज से अपनी बहिन और मां को बुलाले।

रामनाथ पंडित मातादीन की हवेली में रहने लगा। उन्हीं के रसोईघर में खाना खाने लगा। स्कूल खुल गया। लड़के पढ़ने लगे। रामनाथ पढ़ाने लगा। वैसे उसकी उम्र पढ़ने की थी लेकिन वह खुद पढ़ा रहा था। असमय में उस मासूम लड़के पर प्रौढ़ता आ गई थी। मुसीबत में शायद यह गुण है कि वह बच्चे को भी बुजुर्गों जैसी गम्भीरता और दानाई दे देती है। यह बालक रामनाथ १६–१७ वर्ष का था। परन्तु जहाँ मौत को रोज टालने जाना हो जिन्दगी का मतलब रहता है वहाँ उम्र को नापते चलने वाला वर्ष ज़रा पास पास कदम रखता है। इसीलिये वह बच्चा भी ढलती उम्र का सा लगता था। कभी कभी उसका बचपन उमड़ पड़ता और वह पंडित जी के बच्चों के साथ आँगन में खेलने लगता। कभी वह उनमें से किसी का घोड़ा बन जाता, कभी लुका-छिपी खेलने लगता। और कभी कभी, चाँदनी रात में आँगन में बैठकर उन्हें आसमान की कहानियाँ सुनाता कि जो तारे आसमान में दिखते हैं, वे देवताओं की आँखें हैं जिनसे वे धरती को देखते हैं।

घर के अन्य लोगों को यह अनचाहा अतिथि बहुत अच्छा न लगा। पहिले हफ्ते में भोजन के लिये यों पुकारा गया, "मास्टर साहब

भोजन कर लीजिये।" दूसरे हफ्ते में गृहणी कहने लगी "मास्टर खाना खालो।" तीसरे सप्ताह में वह बोली, "मास्टर टाइम से खाना खा लिया करो; पुकारना पड़ता है।" चौथे सप्ताह सबके खा चुकने पर उसे खिलाया जाता। और पाँचवें सप्ताह यह स्नेह और सम्मान की यात्रा इस मंजिल पर पहुँची कि गृहणी ने महराजिन से कहा, "बासी रोटी मास्टर को क्यों नहीं दे देती ?" आठ हजार वर्षों की संस्कृति के बोझ से दबे हुए इन कुछ लोगों के घरों का यही हाल है कि जो त्याज्य है, अपवित्र है, हानिकारक है वही अतिथि के लिये है। बाजार में पूजा की सड़ी, गली, छोटी और सस्ती सुपारी, खाने की सुपारी से जो अलग मिलती है, उसके पीछे यही फिलासिफी तो आधार-रूप है, कि सड़ा गला जो है वह धर्म और परमार्थ के लिये है। पूजा की सुपारी वह सड़ी सुपारी है जो खाने के काम न आ सके।

खैर, रामनाथ स्थिति के और बिगड़ने के पहिले ही अपनी बहिन और माता को ले आया। एक छोटे से घर में वे तीनों प्राणी रहने लगे। अब रामनाथ की मनोदशा और भी बिगड़ गई। गरीब आदमी के घर में कला और, संस्कृति की बातें नहीं होती। भूखे की कला संस्कृति और दर्शन पेट के बाहर कहीं नहीं होते। रामनाथ जब घर आता तो माता अपना दुखड़ा रोती। कभी देखता बहिन के पास साड़ी नहीं है। फिर माँ–बेटे में उस लड़की की शादी की समस्या पर चर्चा होती। रोना रोते–रोते तीनों प्राणी सो जाते। सबेरे फिर रामनाथ माँ को देखता और बहिन को देखता और उसके माथे में शूल चुभने लगता। 'कुछ' खा पीकर पढ़ाने चला जाता, तो वहाँ भी चिन्ता उसके मन से निकलती नहीं। दर्द अगर तनिक देर को आँखों में आय तो हर्ष की फुहार उसकी

खरोंच को धोकर साफ कर देती है, लेकिन जहाँ वर्षों से दर्द, आकर बस ही गया हो, उन आँखों का रंग ही बदल जाता है। उनसे दर्द जैसे उमड़ता रहता है। एसा ही मुख था इस रामनाथ का। ऐसी ही वे आँखें थीं जो मानो स्वयं ही इस दर्द से भयभीत हो, भीतर घुसती जातीं थीं।

× × ×

आर एक दिन शाम को पंडित जी के बच्चों में खबर फैल गई कि कल शाम को मामा आनेवाले हैं। सब बच्चे नाच उठे। रात को चाँदनी की छाया में जब सब बच्चे बैठे तो मामा की ही बातें होती रहीं। मुन्नी बोली, "मास्टर साहिब, बहुत अच्छे मामा हैं हमारे। हमारे लिए मिठाई लायेंगे।" "सुरेश बोला "हमारे लिए भी मिठाई लायेंगे।" रमेश और आगे बढ़कर बोला "हमारे लिए रेल-गाड़ी लायेंगे ?" मुन्नी ने पूछा "मास्टर साहिब, तुम्हारे लिये क्या लायेंगे !" रामनाथ इस प्रश्न से अकचका गया। कोई उसके लिए भी कुछ लायेगा, यह आशा उसके हृदय से कबकी निकल चुकी थी। इस बच्ची ने उसे जगा दिया। रामनाथ को लगा कि सचमुच मामा उसी के आ रहे हैं और उसने एक क्षण में तय कर लिया कि उसे क्या चाहिए। वह बोला, "रुपया लायेंगे।" बच्चे इस उत्तर से कुछ विशेष प्रसन्न हुए। वे उम्मीद कर रहे थे कि वे हवाईजहाज जैसी किसी चीज का नाम लेंगे, पर वे तो बहुत मामूली चीज चाहते हैं !

दूसरे दिन पण्डित जी के साले आये। उनका नाम डाक्टर योगेन्द्रनाथ था। वे यूरोप के कई देश घूम चुके थे। अमेरिका से एक

तो डाक्टर की डिग्री ले आये थे और एक मेम लाये थे। लेकिन एक आदमी के पास डिग्रियाँ चाहे दो चार रह लें, पर स्त्री दो नहीं रह सकतीं। सो एक को जाना ही था। और गोरी बीबी के सामने काली बीबी टिक नहीं सकती। वह बीस विस्वा के कान्यकुब्ज की कन्या अपने मायके चली गई। पर उसके ही भाग्य से साल भर बाद ही बिलायती बीबी की मृत्यु हो गई और वह फिर बुलाई गई।

डाक्टर साहब बड़े प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री थे। वे आगरा के टीचर्स-ट्रेनिंग-कालेज के प्रिंसपल थे।

× × ×

दूसरे दिन जब रामनाथ पढ़ाने आने लगा तब माँ ने उसे पुकार कर कहा, "बेटा, पंडित जी से कुछ रुपये माँग लाना। आज बिल्कुल आटा नहीं बचा। दाल भी नहीं है। १०-५ रुपये पेशगी ले आना, अगले माह में काट लेंगे।"

रामनाथ ने कहा, "मां, मुझसे न माँगा जायगा। उनके यहाँ मेहमान आये हैं।

मां बोली, "अरे, तू तो पगला है। एक तरफ बुलाकर धीरे से कह देना। जरूर ले आना मेरे बेटा, नहीं तो देख बड़ी अड़चन पड़ेगी। और सुन रे रामनाथ, अगर हम लोग इस कमला की शादी करने लगे तो थोड़ी मदद तेरे ये पंडित जी कर देंगे न? थोड़ा थोड़ा अनाज गाँव वालों से ले लेंगे। इतने में निपट जायगी। इस लड़की का ठिकाना पड़ जाय तो मेरी छाती का बोझा उतर जाय"।

ऐसे ही वह दुखयारी मां कहती रही। पर रामनाथ कुछ सुनकर कुछ अनसुनी करके चल दिया।

इधर डाक्टर साहब को जब मालूम हुआ कि पंडितजी ने एक ग्रामीण पाठशाला खोल रखी है तो एक शिक्षा-शास्त्री के नाते उसमें दिलचस्पी लेना उन्होंने अपना फर्ज समझा। वे पंडितजी के साथ बरामदे में आकर खड़े हो गये। थोड़ी देर तक देखते रहे। फिर बैठक में जाकर मातादीन से बोले, "जैसी आपकी पाठशाला है वैसी अगर सारे देश में हो जायें तो यह देश बहुत जल्दी बरबाद हो जाय।" पंडित मातादीन को एक धक्का सा लगा। पूछने लगे "क्यों" क्या? बात हो गई ऐसी?" भाषण की शैली में डाक्टर साहब बोले, "आपका मास्टर बिल्कुल बे काम है। देखते नहीं कैसा मनहूस सा पढ़ाता है? कितना निर्जीव है। जेम्स एडम्स ने कहा है कि शिक्षक को हँसते हँसते खुशी खुशी पढ़ाना चाहिए। और रूसो का कहना है कि जो शिक्षक हँसते हुए नहीं पढ़ाता, उसके विद्यार्थी हीनता की भावना वाले, चरित्रहीन और निराशावादी होते हैं। सब विचारकों का मत है यह। यह मास्टर तो बिलकुल क़ाबिल नहीं है। उसको कहो कि वह हँसते हुए पढ़ाए।"

पंडित जी को शिक्षा-शास्त्री की बात ठीक लगी। उन्होंने रामनाथ को बुलाया। उस समय वह सोच रहा था कि कब और कहाँ एकांत में वह पंडित जी को बुलाकर पैसे माँगेगा। रामनाथ से पंडित जी ने कहा "देखिये, मास्टर साहब, डाक्टर साहब का कहना है कि आपका पढ़ाने का ढंग गलत है। आप जानते हैं, मैं इसे एक आदर्श पाठशाला बनाना चाहता हूँ। डाक्टर साहब का कहना है कि आप हँसते हुए पढ़ाया करिएं।"

फिर डाक्टर साहब ने भी उसे एक लंबा भाषण दिया। वह 'जी हाँ' कहता हुआ सुनता रहा।

भयभीत सा वह कमरे से निकलकर कक्षा में आया। उसने लाख चेष्टा की पर जैसा डाक्टर साहब ने कहा था वैसा कर न पाया। स्कूल बंद करके घर पहुँचा तब उसे याद आया कि पंडित जी से रुपये नहीं माँगे।

आशा से बैठी मां ने जब पूछा तो संक्षेप में "नहीं" कहकर वह खाट पर पड़ गया। ममतामयी मां उसके पास जाकर बोली, "क्यों कैसे लेट गया बेटा? तबियत तो ठीक है न?"

"ठीक है मां।" वह बोला।

"तो फिर तू कैसा अनमना सा पड़ गया। मैंने कितनी बार कहा कि बेटा चिंता मत किया कर। देख तो तू कैसा सूखता जा रहा है। अरे, भगवान सबका है। जो सबकी रखवाली करता है, वह हमारी भी चिंता कर लेगा।"

रामनाथ बोला, "माँ, अब मैं पढ़ाने नहीं जाऊँगा।" "क्यों बेटा, क्या हो गया? कुछ कहा उन लोगों ने?" मां ने चिंता से पूछा।

रामनाथ बोला, "मां, पंडित जी के साले ने पंडित जी से कह दिया है कि इसे पढ़ाना नहीं आता। कहते हैं हँसते हँसते पढ़ाना चाहिए। मुझसे दोनों ने कहा कि पढ़ाना हो तो हँसते हँसते पढ़ाओ।"

माँ ने कहा, "तो बेटा इसमें क्या मुश्किल है? तू दिन भर हँसते हुए पढ़ाया कर। हँसने में क्या है?"

रामनाथ ने दीनता से कहा, "तू समझती तो है नहीं माँ। मुझसे हँसते नहीं बनता। मैं हँस ही नहीं सकता।"

माँ ने बेटे के सिर पर हाथ फेरते हुए कहा, "अरे बेटा, हँसना भी कोई मुश्किल बात है? देख मैं हँसकर बताती हूँ।"

और यह वृद्धा मां, मुंह व आँखों को विस्फारित करके, हँसने की चेष्टा करते करते फफक कर रोने लगी। उसने बेटे को चिपका लिया और हँसने की चेष्टा में दोनों बड़ी देर तक रोते रहे। फिर कुछ खा पीकर सो रहे।

दूसरे दिन कड़ा जी करके रामनाथ पढ़ाने गया। थोड़ी देर बाद, पंडित जी और डाक्टर साहिब फिर आकर खड़े हो गये। रामनाथ और भयभीत हो गया। पंडित जी ने कहा "मास्टर साहिब, आप कल की बात भूल गये। डाक्टर साहिब ने कहा था न कि आप हँसकर पढ़ाया करिये? रामनाथ ने "जी हाँ" कहा और काम में लग गया। पर वह वहाँ से भाग जाना चाहता था। हँसी कोई ओंठों और मुंह की प्रतिक्रिया होती तो वह हँस देता!

पंडित जी ने जब देखा कि मास्टर साहब अभी भी ठीक रीति से नहीं पढ़ा रहे हैं तो जरा रोष में आकर बोले "आप भी अजीब हैं। रोनी सूरत बनाये हैं। आपको हँसने में भी शर्म आती है?"

रासनाथ से अब बर्दाश्त न हो सका। उसकी सब्र का बाँध टूट गया और वह रो पड़ा।

डाक्टर साहब पंडित जी को बैठक में ले गये और बोले, "यह आदमी इस काम के बिलकुल लायक नहीं है। बच्चों का भविष्य इसके हाथों मत बिगड़वाइये। देखो कैसा रो पड़ा। इसे अलग कर दीजिये। कल मैं शहर जा ही रहा हूँ; एक अच्छा मास्टर भेज दूंगा।"

शाम को रामनाथ जबाब पा गया।

तीसरे दिन सबेरे अपनी गृहस्थी गाड़ी पर लादे, सिर पर एक गठरी रखे, रामनाथ, उसकी मां और बहिन, गाड़ी के पीछे

पीछे चल रहे थे। गांव छोड़कर कहीं पेट भरने की चिन्ता में जा रहे थे।

कुए पर एक स्त्री ने पूछा "क्यों मां, क्या गांव छोड़कर जा रही हो ?"

"हां बेटी ! यहां का इतना ही दाना पानी था।" मां ने आँसू पोंछते हुए कहा।

"क्यों यहीं क्यों न रहीं मां जी ?" दूसरी ने पूछा।

वृद्धा ने जबाब दिया, "बेटे को नौकरी से अलग कर दिया।"

वे पूछने लगीं, "नौकरी से अलग क्यों कर दिया मां ?"

"उससे कहते हैं हँसो। और हम दुखयारों से क्या हँसा जाता है बेटी ?"

"तो अब कहां जाओगी मां ?" स्त्रियों ने सहानुभूति से पूछा

'क्या बताऊँ बेटी; कहीं जायेंगे, जहां रोने वालों को भी रोटी मिलती हो।"